

स्वाध्याय-सुमन

नित्य स्वाध्याय एव स्मरण योग्य स्तोत्र सग्रह

◆ दिशा-दर्शन ◆

शासनसेवी स्व श्री ब्रजलालजी महाराज

◆ सम्पादिका ◆

विदुषी महासतीजी श्री उमरावकुंवरजी म सा 'अर्चना' की सुशिष्या

महासती उम्मेदकुवरजी म.

◆ प्रकाशक ◆

मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

ब्यावर (राजस्थान)

मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन : पुष्प ४६

❑ स्वाध्याय-सुमन

(नित्य स्वाध्याय एवं प्रातः स्मरण योग्य स्तोत्र संग्रह)

❑ दिशा-निर्देशन- **शासनसेवी श्री ब्रजलालजी महाराज**

❑ सम्पादिका- **महासती उम्मेदकुंवरजी म.**

❑ प्रकाशन :

मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

❑ चतुर्थ परिवर्द्धित संशोधित संस्करण
वि. सं. २०५४ भाद्रपद
सितम्बर [redacted]

❑ मूल्य : २५ रुपये : लागत मात्र

मुद्रक : मनोहर प्रिन्टिंग प्रेस, ब्यावर (राज.) 305 901

प्रकाशकीय

स्वाध्याय से जीवन मे शान्ति, शक्ति, स्फूर्ति और नवी[illegible]। संचार होता है। 'स्वाध्याय-सुमन के स्वाध्याय व स्मरण से भी पाठको को ऐसा ही अनुभव होता रहा है, इसलिए इसकी उपयोगिता है, पाठक बार-बार इसकी मांग करते रहते है। इसमें कुछ विशेषताएँ है, जो अन्य स्तोत्र संग्रहो मे नही मिल सकती, इसलिए स्वाध्याय प्रेमीजन इसको प्रेम से पढ़ते है।

मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन अपने सुरुचि पूर्ण, लोकोपयोगी उत्तमोत्तम प्रकाशनो से जैन साहित्य की सेवा कर रहा है, और भविष्य में भी करता रहेगा। शासनसेवी स्व स्वामी श्री ब्रजलाल जी महाराज तथा स्व युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी महाराज श्री का आशीर्वाद एवं साध्वीरत्न श्री उमरावकुंवरजी म का निर्देशन संस्था को कल्याणकारी लोकपयोगी साहित्य के प्रकाशन-प्रचार-प्रसार के लिये प्रेरित करता रहे इस भावना के साथ स्वाध्याय-सुमन का चतुर्थ संस्करण प्रस्तुत कर रहे हैं। आशा है पाठको का पूर्ववत् सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

उत्तमचंद मोदी
मत्री- मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
ब्यावर

प्राक्कथन

स्वाध्याय को तप की संज्ञा दी गयी है। स्वाध्याय मानव को अज्ञान से ज्ञान, अंधकार से उजाले की ओर ले जाता है। जैन साहित्य में भावप्रवण एवं चिन्तनशील मनीषियो द्वारा अनेक स्त्रोत लिखे गये है। यह संचित ज्ञान राशि का अनुपम भण्डार है। स्वाध्याय-सुमन अपने ढंग की अद्भुत कृति है। इसमें स्मरणीय स्तोत्र, अन्वय भावार्थ तथा हिन्दी पद्य के साथ संकलित किए गये हैं। भावार्थ और व्याख्या की शैली इतनी अनूठी है कि पाठक इनके साथ तादात्मीकृत हो जाता है।

परम श्रद्धेय गुरुदेव शासन सेवी श्री व्रजलाल जी महाराज एवं युवाचार्य श्री मदुकर मुनि जी महाराज के दिशा-निर्देश मे तपश्चर्या की प्रतिमूर्ति, संकल्प की छैनी से अपने व्यक्तित्व को तराशने वाली विदुषी महासती श्री उम्मेद कँवर जी म सा ने यह संग्रह अत्यंत श्रम एवं अन्वेषण दृष्टि का परिचय देते हुए तैयार किया है। उनकी व्यापक स्वाध्याय अभिरुचि का ही प्रतिफल स्वाध्याय सुमन के रूप में प्रस्तुत है। इसके प्रत्येक शब्द मे आध्यात्म की सुरभि विद्यमान है। मेरा विश्वास है कि यह कृति चिन्तन के नूतन क्षितीज खोलेगी।

डॉ नरेन्द्रसिंह, ब्यावर

आशीर्वचन

उग्रतपस्विनी महासती उम्मेदकुंवरजी म सा ने तपाग्नि में अपनी आत्मा को कुन्दन के समान कांतिमान बना दिया है। वेदनीय कर्म के उदय से सहन शक्ति की कसौटी पर आप सदा खरी उतरी है। आप तीव्र बुद्धि एवं ग्राह्य शक्ति की बचपन से ही स्वामिनी रही है। आपकी अद्‌भुत संकल्प क्षमता प्रशंसनीय है।

'स्वाध्याय-सुमन' महासतीजी की सरल-सात्विक-लोकोपयोगी साहित्यिक अभिरुचि का प्रतीक है। इसमे उन्होने स्वाध्याय योग्य स्तोत्रों का संकलन एवं सम्पादन किया है। इसके प्रत्येक सुमन की महक पाठको को सब दु:खो से मुक्ति दिलाएगी एवं ज्ञानावरण कर्म के क्षय मे सहायक होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। बृहत्कल्पभाष्य मे कहा गया है-

''न वि अत्थि न वि अ होही, सज्झायसमं तवोकम्मं''

अर्थात् स्वाध्याय के समान तप न कभी अतीत मे हुआ है, न वर्तमान मे कहीं है और न भविष्य में कभी होगा।

मै महासती उम्मेदकुंवरजी सरीखी सहयोगिनी पाकर गौरवान्वित हूँ। उनके तप और स्वाध्याय की कांति दिन-प्रतिदिन प्रखर हो, ऐसा मैं आशीर्वाद देती हूँ।

– जैनआर्या उमरावकुंवर ''अर्चना''

समर्पण

अर्पण है-

भावों की सुकुमार सुरभित वल्लरी श्री चरणों में,
जिनके ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की छाया
में चली, अनुक पना की पलकों में पली
जिस कल्पतरू की छाया में
मैंने सन्ताप प्राण पा दिव्य संगीत सुना
परिपहों के पैंने कटको के बीच
स्वाध्याय सुमन 'सुमन' से चुना
किया जिन्होंने मम जीवन का
कल्यान्तर, ऋणी जिनका मेरा
अन्तर, उन्हीं श्री चरणों
में अर्पण श्रद्धानु-
भूति का
कण-कण

- साध्वी उम्मेदकुंवर

प्रकाशक परिचय

नागौर जिला तथा मेडता तहसील के अर्न्तगत चांदावतों का नोखा एक छोटा सा किन्तु सुरम्य ग्राम है, इस ग्राम में चौरड़िया परिवार के घर अधिक है।

इस चौरडिया परिवार में समुत्पन्न धर्मनिष्ट सेठ श्री खीवराज जी सा चौरड़िया राजस्थान के गौरवास्पद व्यवसायी एवं स्थानकवासी जैन समाज की अन्यतम विभूति थी।

पिता सेठ श्री सिरेमल जी सा एवं माता श्रीमती सायरकुंवर बाई के धार्मिक संस्कार आपको उत्तराधिकार मे प्राप्त हुए। आपके ज्येष्ठ भ्राता सेठ श्री हीराचन्द जी सा , ज्येष्ठ भ्राता पद्म श्री सेठ मोहनमल जी सा तथा लघु भ्राता श्री माणकचन्द जी सा भी सुप्रसिद्ध समाज रत्न थे। आपके सुपुत्र श्री देवराज जी सा. तथा श्री नवरत्नमल जी सा. अपने पिता श्री के पद चिन्हो पर चलते हुए समाज में अपना गौरवपूर्ण स्थान बनाये हुए हैं।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती भंवरीबाई धर्म और श्रद्धा की प्रतिमूर्ति तो है ही, परम तपस्विनी भी है। शारीरिक स्वास्थ्य साधारण होते हुए भी अपने प्रबल आत्मबल के आधार पर वर्षीतप, मासखमण, अठाई आदि अनेकानेक तपस्याएँ आपने की है। और लाखों की राशि भी दान में दी है। समय-समय पर गुप्तदान भी करते ही रहते हैं।

महायोगेश्वरी परम पूज्या गुरुणी जी श्री उमराव कुंवर जी म. सा "अर्चना" के प्रति सेठानी सां. एवं समस्त परिवार की अनन्य श्रद्धा है।

यही कारण है कि पू गुरुवर्या श्री जी म सा का अपनी शिष्या

मण्डली के साथ अपने ग्राम नोखा-चांदावतों मे होली चातुर्मास होने के उपलक्ष्य मे आपने प्रस्तुत "स्वाध्याय-सुमन" पुस्तक के चतुर्थ संस्करण प्रकाशन मे अपना उदार सहयोग प्रदान किया हैं।

समिति सदा आपके सहयोग की कृतज्ञ रहेगी तथा भविष्य में भी साहित्यिक कार्यो मे आपके सहयोग की आशा के साथ

उत्तमचन्द मोदी
मंत्री
मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राज)

तपस्विनी महासती श्री उम्मेदकुंवरजी महाराज साहब का संक्षिप्त जीवन परिचय

– कमला जैन जीजी एम. ए.

"स्वाध्याय-सुमन" नामक यह अत्युत्तम पुस्तक आपके हाथो मे है। इसके दो संस्करण पूर्व में प्रकाशित हो चुके हैं। किन्तु अत्यन्त जीवनोपयोगी संग्रह होने के कारण अब यह चतुर्थ संस्करण आप सबके समक्ष है। प्रत्येक मुमुक्ष इसमें दिये हुए नित्य स्मरणीय स्तोत्रो का स्वाध्याय करके अपने जीवन को निरंतर विशुद्ध एवं उन्नत बनाता हुआ अपनी आत्मा को दिव्यात्मा बना सकता है।

"स्वाध्याय-सुमन" के स्वाध्याय योग्य स्तोत्रो का सकलन एव सम्पादन काश्मीर प्रचारिका प्रकाण्ड पंडिता श्रमणीरत्न महासती जी श्री उमरावकुंवर जी म 'अर्चना' की सुशिष्या परम विदुषी, घोर तपस्विनी महासती जी श्री उम्मेदकुंवरजी म ने किया है। बहुत श्रम द्वारा यह अत्युत्तम संकलन करके आपने मोक्षाभिलाषी आत्माओं का मार्ग सुगम करने का प्रयत्न किया है।

एक बात और भी ध्यान देने की है। प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम संस्करण सपादिका महासती जी की सासूजी स्व श्रीमती छोटीबाई धारीवाल ने स्वयं द्रव्य-सहायता देकर प्रकाशित करवाया था महासती जी महाराज साहब की दीक्षा की स्मृति के उपलक्ष में। आज श्री छोटीबाई का पार्थिक शरीर इस संसार मे नहीं है, किन्तु प्रथम संस्करण के प्रकाशित होते समय वे मौजूद थी। उस समय उनकी एक तमन्ना और थी कि महासती जी का जीवन परिचय भी पुस्तक मे दिया जाय, किन्तु ऐसा उस वक्त नहीं हो सका। अब वह कमी पूरी की जा रही है तथा महाराज श्री के परिचय देने का प्रिय-भार मुझे सौंपा गया है। वहग इसलिये कि महासती जी श्री उम्मेदकुंवर जी

समाज से मेरा सम्पर्क उनकी गृहस्थावस्था से ही रहा है। तब से मुझे महीनों और वर्षों तक भी आपके साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आपके जीवन का लम्बा अर्सा मेरे समक्ष बीता है। अतः आपका परिचय मेरे लिए खुली पुस्तक है, नवीन नहीं और इसीलिये मुझे परिचय लिखने के लिये अधिक जानकारी की आवश्यकता भी नहीं है। वर्षों से जैसा देखती आ रही हूँ वही पाठकों के समक्ष रखने का प्रयत्न करूँगी।

महासती जी का जन्म ब्यावर में हुआ था। आपके पिताजी सेठ मिश्रीमल जी साहब मुणोत स्थानकवासी समाज के श्रेष्ठरत्न, बड़े दानवीर, धर्मनिष्ठ एवं सुयोग्य श्रावक थे। ऐसे प्रतिष्ठित पिता के यहाँ संवत् 1978 मगसिर शुक्ला चतुर्दशी को रोहिणी नक्षत्र मे आपका जन्म हुआ। उस समय आपका नाम सुरमाबाई रखा गया था। आपकी माता सेठानी मिश्रीबाई भी बड़ी उदार एवं सरल थीं। धार्मिक संस्कार उनमे कूट-कूट कर भरे हुए थे। बालिका सुरमाबाई के रूप में आपका बाल्यकाल अत्यन्त लाड-प्यार एवं आनन्द मे व्यतीत होने लगा। उस काल मे ही धर्मप्रेमी माता-पिता के सुन्दर संस्कार आपके अन्दर प्रस्फुटित हुए एवं उम्र के साथ-साथ ही पुष्ट होने लगे। बचपन मे ही साधु-साध्वियों को देखकर व उनके दर्शन कर आपका मन अत्यन्त प्रफुल्लित होता था। दूसरे शब्दों में उनके प्रति आकर्षित होता था। इसी आकर्षण ने कालांतर मे आपको साध्वी-जीवन अपनाने के लिए प्रेरित किया।

आपके अलावा आपके चार भाई और एक बहिन और हैं। मूलचन्दजी सा. गुलाबचन्दजी सा. लक्ष्मीचन्दजी साहब मुणोत एवं श्री केवलचन्दजी साहब मुणोत हैं। आपकी बहन सौ. मोहनबाई हैं जिनका विवाह जयपुर में हुआ था। आपके सभी भाई बहन सुयोग्य, धर्मनिष्ठ एवं सुसंस्कारों से युक्त प्रतिष्ठा प्राप्त श्रावक हैं। सभी भाई बहनों के साथ आपका बाल्यकाल अत्यन्त सुखपूर्वक एवं क्रीडा-प्रमोद करते हुए बीता।

◆ विवाह

यद्यपि आपका सम्बन्ध तो केवल चार वर्ष की उम्र मे ही आपकी दादीजी के आग्रहवश कर दिया गया था, किन्तु विवाह बारह वर्ष की वय मे पाली निवासी माननीय सेठ केसरीमल जी साहब धारीवाल के सुपुत्र कुवर श्री कुन्दनमल जी साहब के साथ हुआ। अत्यन्त सम्पन्न एवं धार्मिक घराने मे आपने विवाहित होकर प्रवेश किया। आज भी निकटस्थ देवर श्री मोहनलाल जी साहब धारीवाल एव पुखराजजी साहब धारीवाल पाली के गणमान्य व्यक्ति एव समाज के कर्मठ सदस्य माने जाते है। अस्तु, मैं यह बता रही थी कि आपका बाल्यकाल पूरा भी नही हुआ था और मात्र बारह वर्ष की वय मे ही आपका विवाह हुआ एव नव वधू के रूप मे आपने ससुराल मे पर्दापण किया। जैसा कि स्वाभाविक है ससुराल मे कुछ समय आपका अत्यन्त आनन्दपूर्वक व्यतीत हुआ और चिन्ता, दुख अथवा कष्ट क्या होता है इसे आपने स्वप्न मे भी महीं जाना। किन्तु होनी का पता इस संसार मे किसे चलता है। स्वप्न-ससार के समान ही केवल चौदह महीने व्यतीत हुए और आपके जीवन मे भयकर परिवर्तन आ गया।

◆ वैधव्य एवं वैराग्य

जैसा कि ऊपर मैंने बताया है, विवाहित जीवन के अत्यन्त आनन्दप्रद समय के पश्चात् ही आपके जीवन मे आमूल परिवर्तन आया। वह यही कि आपका विवाह संवत् 1990 मे फाल्गुन शुक्ला चतुर्थी को हुआ और संवत् 1992 में वैसाख शुक्ला प्रतिपदा को कु श्री कुन्दनमलजी का दिल्ली मे आकस्मिक निधन हो गया। श्री कुन्दनमल जी साहब केवल 16 वर्ष के थे किन्तु उस उम्र में भी वे बडे धर्मानुरागी एवं दयालु थे। किसी को भी सेवा अथवा अन्य कार्य की आवश्यकता होती तो वे अपना व्यवसाय कार्य छोड़कर तुरन्त आवश्यकतानुसार स्थान पर जा उपस्थित होते थे। ऐसे उदार

.हाराज से मेरा सम्पर्क उनकी गृहस्थावस्था से ही रहा है। तब से मुझे महीनों और वर्षो तक भी आपके साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आपके जीवन का लम्बा अर्सा मेरे समक्ष बीता है। अतः आपका परिचय मेरे लिए खुली पुस्तक है, नवीन नहीं और इसीलिये मुझे परिचय लिखने के लिये अधिक जानकारी की आवश्यकता भी नहीं है। वर्षो से जैसा देखती आ रही हूँ वही पाठको के समक्ष रखने का प्रयत्न करूँगी।

महासती जी का जन्म ब्यावर में हुआ था। आपके पिताजी सेठ मिश्रीमल जी साहब मुणोत स्थानकवासी समाज के श्रेष्ठरत्न, बड़े दानवीर, धर्मनिष्ठ एवं सुयोग्य श्रावक थे। ऐसे प्रतिष्ठित पिता के यहाँ संवत् 1978 मगसिर शुक्ला चतुर्दशी को रोहिणी नक्षत्र में आपका जन्म हुआ। उस समय आपका नाम सुरमाबाई रखा गया था। आपकी माता सेठानी मिश्रीबाई भी बडी उदार एवं सरल थी। धार्मिक संस्कार उनमे कूट-कूट कर भरे हुए थे। वालिका सुरमाबाई के रूप में आपका बाल्यकाल अत्यन्त लाड़-प्यार एवं आनन्द में व्यतीत होने लगा। उस काल मे ही धर्मप्रेमी माता-पिता के सुन्दर संस्कार आपके अन्दर प्रस्फुटित हुए एवं उम्र के साथ-साथ ही पुष्ट होने लगे। वचपन में ही साधु-साध्वियों को देखकर व उनके दर्शन कर आपका मन अत्यन्त प्रफुल्लित होता था। दूसरे शब्दों में उनके प्रति आकर्पित होता था। इसी आकर्पण ने कालांतर में आपको साध्वी-जीवन अपनाने के लिए प्रेरित किया।

आपके अलावा आपके चार भाई और एक बहिन और हैं। मूलचन्दजी सा गुलावचन्दजी सा लक्ष्मीचन्द्रजी साहव मुणोत एवं श्री केवलचन्द्रजी साहव मुणोत है। आपकी बहन सौ. मोहनबाई हैं जिनका विवाह जयपुर मे हुआ था। आपके सभी भाई बहन सुयोग्य, धर्मनिष्ठ एव सुसंस्कारों से युक्त प्रतिष्ठा प्राप्त श्रावक है। सभी भाई बहनों के साथ आपका वाल्यकाल अत्यन्त सुखपूर्वक एवं क्रीडा-प्रमोद करते हुए वीता।

◆ विवाह

यद्यपि आपका सम्बन्ध तो केवल चार वर्ष की उम्र मे ही आपकी दादीजी के आग्रहवश कर दिया गया था, किन्तु विवाह बारह वर्ष की वय मे पाली निवासी माननीय सेठ केसरीमल जी साहब धारीवाल के सुपुत्र कुवर श्री कुन्दनमल जी साहब के साथ हुआ। अत्यन्त सम्पन्न एव धार्मिक घराने मे आपने विवाहित होकर प्रवेश किया। आज भी निकटस्थ देवर श्री मोहनलाल जी साहब धारीवाल एवं पुखराजजी साहब धारीवाल पाली के गणमान्य व्यक्ति एव समाज के कर्मठ सदस्य माने जाते है। अस्तु, मै यह बता रही थी कि आपका बाल्यकाल पूरा भी नही हुआ था और मात्र बारह वर्ष की वय में ही आपका विवाह हुआ एव नव वधू के रूप मे आपने ससुराल मे पर्दापण किया। जैसा कि स्वाभाविक है ससुराल मे कुछ समय आपका अत्यन्त आनन्दपूर्वक व्यतीत हुआ और चिन्ता, दुख अथवा कष्ट क्या होता है इसे आपने स्वप्न मे भी मही जाना। किन्तु होनी का पता इस ससार मे किसे चलता है। स्वप्न-ससार के समान ही केवल चौदह महीने व्यतीत हुए और आपके जीवन मे भयकर परिवर्तन आ गया।

◆ वैधव्य एवं वैराग्य

जैसा कि ऊपर मैने बताया है, विवाहित जीवन के अत्यन्त आनन्दप्रद समय के पश्चात् ही आपके जीवन मे आमूल परिवर्तन आया। वह यही कि आपका विवाह संवत् 1990 मे फाल्गुन शुक्ला चतुर्थी को हुआ और सवत् 1992 में वैसाख शुक्ला प्रतिपदा को कु. श्री कुन्दनमलजी का दिल्ली मे आकस्मिक निधन हो गया। श्री कुन्दनमल जी साहब केवल 16 वर्ष के थे किन्तु उस उम्र मे भी वे बडे धर्मानुरागी एवं दयालु थे। किसी को भी सेवा अथवा अन्य कार्य की आवश्यकता होती तो वे अपना व्यवसाय कार्य छोड़कर तुरन्त आवश्यकतानुसार स्थान पर जा उपस्थित होते थे। ऐसे उदार

थे वे। दिल्ली में चॉदमल केसरीचन्द नामक फर्म थी उनकी और अपने कार्यभार को उठाने में सक्षम थे। किन्तु उनके देहावसान के साथ ही वह फर्म भी वहॉ से उठा ली गई थी। मैं बता रही थी कि इस वज्रपात से आपके पीहर एवं ससुराल के सभी हतप्रभ हो गये तथा शोक-सागर मे डूब गए। आपकी अपनी अवस्था तो उस समय केवल चौदहवें वर्ष के प्रवेश में ही थी। उस वालिका वय में अपने दु:ख की गम्भीरता व अधिकता को संभव है आपने नाप ही न पाया होगा कि यह दु:ख का घाव कितना गहरा है, ऐसा इसलिए भी अन्दाजा लगाया जा सकता है कि उस दुखद अवसर पर जव आपके पिताजी, माताजी, भाई दिल्ली आये और वहॉ से पुन: लौटने लगे तो वालिका सुरमा अपनी मॉ के साथ भाग खड़ी हुई और जबर्दस्ती स्टेशन आकर उनके साथ ट्रेन में बैठ गई यह कहते हुए कि "यहॉ सब दिनभर रोते रहते है, मैं तो अपने घर व्यावर चलूँगी।"

किन्तु दिन पर दिन व्यतीत होते चले गए और आपको अपने जीवन के मोड़ की, अपने सुख-सौभाग्य पर हुए वज्रपात की महत्ता प्रतीत हुई और इसके फलस्वरुप आपके हृदय मे जीवन की नश्वरता, संसार की असारता आदि के कारण विरक्ति के बीज का वपन हो गया। ज्यों-ज्यों वह बढ़ता गया त्यों-त्यों आपके हृदय में संयम लेकर कर्मो से मुक्त होने की कामना भी वढ़ती चली गई। वैधव्यावस्था के पश्चात् करीव नौ वर्प तक में आपकी वैराग्य भावना परिपक्व हो गई और आपने संवत् 2001 मे पूर्ण ? श्वेत वस्त्र पहनना प्रारम्भ कर दिया तथा सादगी से जीवन विताते हुए इसे त्याग, तपस्या एवं व्रतादि से युक्त करके संयमित वना लिया।

◆ विरक्तावस्था एवं दीक्षाग्रहण करना

वि सवत् 2001 के पश्चात के कुछ वर्प आपके वडे संघर्पमय रहे। दीक्षा ग्रहण करने का दृढ निश्चय करने के पश्चात् आपने अपने ससुराल

एवं पीहर वालो से दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा मांगी। पर यह आज्ञा मांगना ही जैसे बम-विस्फोट साबित हुआ। दोनों पक्षों के कान खडे हो गये और सभी आपको अपने निश्चय से डिगाने का यत्न करने लगे। यहॉ तक कि भर्त्सना, तिरस्कार एवं अपमान जनक वाक्यो का निरंतर सामना करना आपके लिए गौण बात हो गयी। कई कई दिनो तक अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए आप निराहार रहे। व्रत उपवास एवं अठाई आदि कर डाली। आपके भाई श्री गुलाबचन्द्र जी साहब एव लक्ष्मीचन्द्र जी साहब मुणोत आपके दीक्षित होने के बडे विरुद्ध थे। उन्होंने मरुधर मत्री प्रवर्तक पूज्य गुरुदेव श्री हजारीमल जी महाराज साहब से वचन ले लिया। वचन भी कितना जबर्दस्त था कि "अगर सुरमाबाई को पीहर व ससुराल दोनों पक्ष आज्ञा देगे तो ही मै उन्हे दीक्षा दूॅगा अन्यथा न मैं दीक्षा दूॅगा और न ही मेरे कोई शिष्य अथवा शिष्याये ही उन्हे दीक्षित करेंगी। इतना ही नही, हमारे राजस्थान का कोई भी साधु या साध्वी भी आप लोगो की आज्ञा के बिना सुरमाबाई को दीक्षा नही देगे।"

इस बीच आपने राजस्थान की परम विभूति एवं तेजोमूर्ति महान साध्वी स्व महासती जी श्री सरदारकुवर जी महाराज साहब की सुशिष्याओं के सम्पर्क मे रहना प्रारम्भ कर दिया। आप सरलमना सेवामूर्ति एव घोरतपस्विनी श्री झमकूकुवर जी महाराज एव परम विदुपी श्री उमरावकुंवर जी महाराज साहब 'अर्चना' के समीप रहकर निरन्तरअपने ज्ञान की वृद्धि करती रही। अध्ययन एव दीक्षाग्रहण करने के लिए सघर्ष, दोनों ही सात वर्प तक साथ साथ चलते रहे। न आपने दीक्षा के लिये आज्ञा लेने के प्रयत्न मे कमी रखी और न आज्ञा देने वालो ने आपकी जिद तोड़ने के प्रयत्नों मे ही कसर रखी। महाराज श्री के लाख प्रयत्न एवं सत्याग्रह करने पर भी उन्हे आज्ञा नही दी गई। इसका मूल कारण किसी प्रकार की नाराजगी अथवा द्वेप नही था अपितु मोह था। मोह के कारण ही उनके घर छोड देने

की कल्पना भी किसी को सत्य नहीं होती थी।

किन्तु संसार से विरक्तात्मा को कौन बॉध कर रख सकता है। लाख वन्धन भी उसे संसार मे बॉधकर नही रख पाते। आज्ञा न मिलने पर भी सम्वत् 2007 मे महासती जी ने साध्वी के समान वस्त्र पहन लिये तथा अपना आहार स्वयं ही घर-घर से लाकर ग्रहण करने लगे। 2008 में तो आपने अपना केसलुंचन कर साधुवृत्ति का पालन करना भी प्रारम्भ कर दिया तथा पूज्य महासती जी श्री उमरावकुंवर जी महाराज के साथ विचरण करना शुरु किया।

कहा जाता है कि दृढ़ इच्छा शक्ति होने पर स्वयं भगवान को भी भक्त की सहायता करनी पड़ती है। किसी कवि ने एक मुक्तक मे भी लिखा है-

कला साधना धुजा देती है पापाण को,
प्रेम की साधना बना लेती है अनजान को।
आदमी की कौन सी साधना फल नही देती,
भक्ति साधना मना लेती है भगवान को॥

महासती जी महाराज की दृढ इच्छा शक्ति और प्रभु शक्ति ने भी भगवान को जैसे बाध्य कर दिया कि उनकी दीक्षा लेने की भावना को वे पूर्ण करें। संभवतः इसीलिए जिसकी कल्पना भी नही की थी, वैसा संयोग वन गया। हुआ यह है कि जव महाराज श्री ब्यावर से पूज्य श्री अर्चना जी महाराज साहव के साथ विचरण करते हुए किशनगढ़ पधारे थे और वहॉ विराज रहे थे, उन्ही दिनो परम श्रद्धेय 1008 आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज साहव के सुशिष्य श्री विमलमुनि जी महाराज अचानक कही से विचरण करते हुए किशनगढ पधार गये। मुनि श्री कुछ ही समय पहले सादडी मे हुए साधु-सम्मेलन मे सम्मिलित हुए थे और तत्पश्चात् उधर से लौटकर पुनः पजाव की ओर पधार रहे थे।

ज्योंही महाराज श्री को उनके आगमन का पता चला वे श्री

विमलमुनिजी के दर्शनार्थ गई और उनके समक्ष अपनी सारी स्थिति रखते हुए उन्ही से दीक्षा देने की प्रार्थना की। मुनिश्री ने कुछ विचार किया और उसके बाद फरमाया-"ठीक है, आपको राजस्थान के कोई साधु-साध्वी दीक्षित नही कर सकते तो न सही, मै आपको दीक्षा दूॅगा। मै पंजाब का हूॅ, राजस्थान का नही और मुझे किसी का भय नही है। इसके अलावा आपकी चाची सासूजी श्रीमती छोटीबाई की आज्ञा तो है ही।

अधे को क्या चाहिए दो ऑखे। इसी कहावत के समान वैरागिन सुरमाबाई को और चाहिए भी क्या था। दीक्षा देने के लिए मुनि श्री के स्वीकृति देते ही उनकी बॉछे खिल गई तथा मन की मुराद पूरी होती प्रतीत हुई। शुभ कार्य मे फिर देर भी क्या करनी थी। उस समय चल रहे संवत् 2009 मे ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को श्री विमलमुनि जी महाराज के द्वारा आपको संयमी जीवन मे प्रवेश मिला, दूसरे शब्दो मे आप दीक्षित हो गई।

◆ कैसी गुरु की शिष्या बनीं?

ससुराल और पीहर दोनों पक्षो के पूर्ण विरोधी होने पर भी और राजस्थान के किसी भी साधु-साध्वी के दीक्षा न देने के संकल्प के बावजूद भी आपको दीक्षा का दुर्लभ सयोग प्राप्त हो ही गया। आपको दीक्षा मिली साथ ही गुरु भी ऐसी मिली जैसी पाना दुर्लभ होता है। आप शिष्या बनी मरुधरा के मंत्री, प्रवर्तक स्वामी जी श्री हजारीमल जी महाराज साहब, श्रमणसघीय शासनसेवी उप प्रवर्तक स्वामी जी श्री ब्रजलाल जी महाराज साहब एवं बहुश्रुत पडितरत्न युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी महाराज साहब मधुकर की आज्ञानुवर्ती परम तेजस्वी, प्रकाण्डविदुपी एवं दिव्यात्मा श्री उमरावकुंवर जी महाराज 'अर्चना' की। जिन्होंने दुरुह विचरण करते हुए सर्वप्रथम काश्मीर मे जाकर जैन शासन का प्रभाव जमाया, धर्म किस चिड़िया का नाम है। इसे भी न जानने वाले असंख्य अज्ञानी प्राणियों को

धर्म से परिचित कराते हुए बोध दिया तथा वीतराग की वाणी उन्हें सुनाई। केवल मांस पर आधारित रहने वाले हिंसक मानवों को अहिंसा का महत्व समझाते हुए हिंसा का त्याग करने की सफल प्रेरणा दी।

महासती श्री 'अर्चना' जी महाराज के विषय में कुछ भी कहना सूर्य को दीपक दिखाने जैसा है। लाखों व्यक्ति जो उनसे परिचित हैं और जिन्होने उनकी ओजस्वी एवं मर्मस्पर्शिनी वाणी को सुना है, वे जानते है कि उनकी वाणी में कितना माधुर्य है, कितना प्रभाव है, कितना पांडित्य है और बोध देने की कितनी क्षमता है। जहाँ-जहाँ भी अब तक उन्होंने विचरण किया है, वहां-वहां के भावुक उनके उपदेशों के जादू से अभिभूत बने हुए है। वे सब यह भी जानते है कि उनके वचन ही नहीं अपितु उनका जीवन भी कितना तप, त्याग एवं साधना पूर्ण है। ऐसे श्रेष्ठ जीवन की एवं अत्यन्त परिष्कृत तथा मृदु मानस की अधिकारिणी दिव्यात्मा 'अर्चना' जी के विषय मे क्या लिखा जाय जितना भी लिखा जाय, कम है, फिर भी मैंने अपने एक उपन्यास 'अग्निपथ' में आपके जीवन को चित्रित करने का प्रयत्न किया है। जिन्होने 'अग्निपथ' पढ़ा है वे जानते है और जो पढ़ेगे वे स्वयं जान सकेगे कि उनका जीवन किस प्रकार अनेकों संकटों और कसौटियो पर कसा जाकर शुद्ध स्वर्ण-सदृश बना है।

◆ अध्ययन

आपकी बुद्धि और ग्राह्य शक्ति बचपन से ही तीव्र रही है। किसी भी विषय को पढ़कर याद कर लेना अथवा रट लेना आपको पसन्द नही था अपितु उस विषय को पूर्ण जिज्ञासा-पूर्वक समझ लेने के बाद ही आप उसे छोड़ती है या कण्ठस्थ कर लेती हैं। अनेको थोकडो एवं ढालो का व्यावहारिक ज्ञान आपने प्राप्त किया तथा आगमों का अध्ययन करते हुए सिद्धान्ताचार्य की परीक्षा दी। आप लौह-लेखनी की धनी है। उनकी प्रेरक

अनुसधान पूर्ण लेखिनी से अनुस्युन विकास के सोपान, उम्मेद है अक्षय पद की, श्री मूल मुक्तावली, रत्न रश्मियाँ, अन्तरनाद, स्वाध्याय सुमन, सिद्धि के सोपान आदि रेखांकित करने योग्य है।

◆ विहार

अपनी गुरु महासती जी श्री अर्चना जी एवं छोटी गुरु बहन बालब्रह्मचारिणी सेवाभावी महासती जी श्री कंचनकंवर जी के साथ यानि मात्र ठाणा ३ होने पर भी आप सबने सम्वत् २०१५ मे जयपुर चातुर्मास के पश्चात् पंजाब, काश्मीर एवं हिमाचल प्रदेश में विचरण किया तथा जैनधर्म का प्रचार एवं प्रसार किया। काश्मीर से वापिस लौटने पर मेवाड मे उदयपुर मालवा गुजरात तक अनेक गावों में भ्रमण किया और तत्पश्चात् राजस्थान मे विचरण होता रहा।

आपकी एक बडी भारी विशेषता है कि आपका जहां भी चातुर्मास होता है अथवा कुछ अधिक समय विराजते है वहां बहनों को एवं बच्चियो को बडी प्रेरणा एवं आग्रह पूर्वक उनकी योग्यतानुसार धार्मिक अध्ययन करवाते है तथा समय-समय पर धार्मिक परीक्षाएं भी दिलवाया करते है।

◆ सहनशक्ति की कसौटी रुग्णता

आपको अपने जीवन में वेदनीय कर्मो के उदय से सहनशक्ति की बहुत-सी कसौटियों पर भी कसा जाना पड़ा है। भाग्यवशात् दीक्षा लेने के साथ ही आपको भयंकर दौरे पड़ते रहे। कभी महीने और कभी डेढ़ २ महीने तक आप अन्न को देख ही नही सकते थे। करीब साढे चार वर्ष तक आपको दोनो का शिकार रहना पड़ा किन्तु तब भी आपका चेहरा यथावत् प्रफुल्ल रहता था तथा जब-जब भी स्वास्थ्य साथ देता, अपने ज्ञान ध्यान मे लगे रहते। दौरों के कुछ ठीक होने के पश्चात् भी आपने जीवन में अनेक

वीमारियो की वड़ी दृढ़ता व साहस से सामना किया। पेट के दो मेजर ऑपरेशन भी आपके हुए। वेदनीय कर्मों के उदय का सबसे कठिन समय आपके लिए सम्वत् २०३० में आया।

उन दिनो आपका बिलाड़ा में चातुर्मास था। तभी एक दिन प्रात:काल मार्ग में चलते समय ही एक भैंस चमक गई और उसकी चपेट मे आ जाने से आपके पैर की हड्डी टूट गई। असह्य वेदना हुई फिर भी आपने बडी धैर्यता से उसे सहन किया। डॉक्टरों का कथन था कि विना ऑपरेशन से पैर ठीक नहीं हो पाएगा। विलाडा एवं महामन्दिर (जोधपुर) के संघों का भी ऑपरेशन के लिए आग्रह था किन्तु आपने अपने आत्मवल पर भरोसा रखते हुए यही कहा-''मै बिना ऑपरेशन के ही ठीक हो जाऊंगी।'' हुआ भी ऐसा ही। पर ऑपरेशन न किये जाने के कारण वारबार प्लास्टर चढ़ाया गया और पुन: असह्य तकलीफ का आपको सामना करना पड़ा किन्तु रंचमात्र भी कायरता आप मे नहीं थी। अतीव सहनशक्ति के धारक होने के कारण अपनी सहज सौम्यता एवं शान्ति के साथ वेदना को आपने सहा और करीव दो वर्प पश्चात् आप दो घोड़ियों की सहायता से कुछ चल सके थे। पर दुर्भाग्यवश हड्डी कुछ टेढ़ी तथा पैर दो इंच छोटा हो गया। अव भी आपको चलने में कुछ तकलीफ होती हैं किन्तु अपने दृढ आत्मवल के कारण विचरण करते है।

तपस्या के प्रति आपको अभिरूचि प्रारम्भ से ही खूव रही है। अव तक आपने निम्न तपस्याये की है :-

(१)महीने का, मासखमण किया। ४० दिन की तपस्या

(२)एक से लेकर पन्द्रह तक की लड़ी यानि १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५ तक के उपवास। २१ क्रिया तपस्या सिद्धितप सर्वतो भद्र तप।

(३)कर्मचूर की आठ अठाइयां।

(४)मेरु के पांच पचोले।

(५) धर्मचक्र–३४ दिन की तपस्या फिर १, २, ३, ४, ५ एवं पुन ४, ३, २, १ की तपस्या।

(६) वरसी तप एवं काफी फुटकर तपस्याएं।

(७) आपने २०३४ के कार्तिक कृष्णा अष्टमी से अन्नाहार का त्याग कर दिया है। साथ ही हरी, घी, तेल, दही, मीठे इत्यादि के भी त्याग है। संवत् २०३८ से आपकी एकान्तर की तपस्या चल रही है।

संक्षेप मे यह आपका जीवन परिचय है। यद्यपि तपोनिष्ठ एवं उन्नत जीवन की अनेक विशेषताएं और भी होगी ही किन्तु उन सबका जीवन की अनेक विशेषताए और भी होगी ही किन्तु उन सबका लिखा जाना सम्भव नहीं है। अतः जैसा और जितना मैंने समझा है वही महाराज श्री के विषय मे लिख दिया है। मुझे विश्वास है कि पाठक इसे पढ़कर आपके आदर्शमय जीवन का अनुसरण करके अपने जीवन को भी उन्नत बनायेगे।

विषय सूची

आदिनाथ स्तोत्र

भक्तामर स्तोत्र

भक्तामर-प्रणत-मौलिमणि-प्रभाणा—
मुद्योतक दलित-पाप-तमो-वितानम्।
सम्यक्प्रणम्य जिन-पाद-युगं युगादा—
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम्॥१॥

हिन्दी पद्य : है भक्त-देव नत मौलिमणि-प्रभा के,
उद्योतकारक, विनाशक पाप के है।
आधार जो भव-पयोधि पडे जनों के,
अच्छी तरा नमि उन्ही प्रभु के पदो को॥१॥

अन्वयार्थ

भक्त —	भक्तिमान्
अमर —	देवो के
प्रणत —	नम्रीभूत
मौलि —	मुकुटों के
मणि—	मणियों की
प्रभाणाम् —	प्रभा को
उद्योतकम् —	प्रकाशित करने वाले
पाप—	पापरूप
तमो—	अन्धकार के
वितानम् —	विस्तार को
दलित —	नष्ट करने वाले

विषय सूची

आदिनाथ स्तोत्र

भक्तामर स्तोत्र

भक्तामर-प्रणत-मौलिमणि-प्रभाणा—
मुद्योतकं दलित-पाप-तमो-वितानम्।
सम्यक्प्रणम्य जिन-पाद-युगं युगादा—
वालम्बन भवजले पतता जनानाम्॥१॥

हिन्दी पद्य : है भक्त-देव नत मौलिमणि-प्रभा के,
उद्योतकारक, विनाशक पाप के हैं।
आधार जो भव-पयोधि पडे जनों के,
अच्छी तरा नमि उन्ही प्रभु के पदों को॥१॥

अन्वयार्थ

भक्त —	भक्तिमान्
अमर —	देवों के
प्रणत —	नम्रीभूत
मौलि —	मुकुटों के
मणि—	मणियो की
प्रभाणाम् —	प्रभा को
उद्योतकम् —	प्रकाशित करने वाले
पाप—	पापरूप
तमो—	अन्धकार के
वितानम् —	विस्तार को
दलित —	नष्ट करने वाले

भवजले — संसार रूप समुद्र में
पततां — गिरते हुए
जनानाम् — जीवों को
युगादौ — युग की आदि में (कर्मभूमि के प्रारम्भ मे)
आलम्बनम् — सहारा देने वाले
जिन-पादयुगं — श्री ऋषभजिन के चरण-युगल को
सम्यक् — भलीभांति
प्रणम्य — प्रणाम करके

भावार्थ : कर्मभूमि के प्रारम्भ में भूख-प्यास से पीड़ित प्रजा को जिन्होंने उसके निवारण का मार्ग दिखाया और धर्म का उपदेश देकर पाप के प्रसार को रोका, अतः भक्ति-युक्त देवों ने आकर उनके चरण-कमलों के प्रसार को नमस्कार किया। उस समय भगवान् के चरणों के नखों की कान्ति से देवों के मस्तकों के मुकुटों में लगी हुई मणियाँ और भी अधिक चमकने लगती थीं। ऐसे जिनेन्द्र के चरणों मे प्रणाम करके मैं उनकी स्तुति करूंगा।

य संस्तुतः सकल-वाङ्मय-तत्त्व-बोधा-
दुद्भूत-बुद्धि-पटुभिः सुर-लोक-नाथैः।
स्तोत्रैर्जगत् त्रितय-चित्त हरैरुदारैः
स्तोष्ये किलाऽहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥२ ॥

हिन्दी पद्य : श्री आदिनाथ विभु की स्तुति मैं करुंगा;
की देव-लोक पतिने स्तुति है जिन्हों की।
अत्यन्त सुन्दर जगत्-त्रय-चित्त हारी,
सुस्तोत्र से सकल-शास्त्र रहस्य पाके ॥२ ॥

अन्वयार्थ : **सकल —** समस्त
वाङ्मय — द्वादशाङ्ग रूप जिनवाणी के

तत्त्वबोधात् —	परम रहस्य के परिज्ञान से
उद्भूत —	उत्पन्न हुई
बुद्धिपटुभिः —	बुद्धि की कुशलता वाले
सुरलोकनाथैः —	देवलोक के स्वामी इन्द्रों के द्वारा
जगत्-त्रितय —	तीन जगत के
चित्तहरैः —	चित्त को हरण करने वाले
उदारैः—	महान्
स्तोत्रै —	स्तोत्रो से
यः —	जो ऋषभदेव
संस्तुतः —	सम्यक् प्रकार स्तवन किये गये (ऐसे)
तम —	उन
प्रथेमम् —	प्रथम
जिनेन्द्रम —	जिनेन्द्र तीर्थकर का
किल —	निश्चय से
अहम् —	मैं मानतुङ्ग
अपि —	भी
स्तोष्ये —	स्तवन करूँगा

भावार्थ—जिन प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव का स्तवन समस्त वाङ्मय के वेत्ता इन्द्रों ने तीन लोक के जीवों के चित्त को हरण करने वाले सुन्दर-सुन्दर शब्द-युक्त स्तोत्रो में किया था, उनका स्तवन मैं मानतुङ्ग (आचार्य) भी करूँगा—

बुद्धया विनापि विबुधार्चित-पाद-पीठ।
स्तोतुं समुद्यत-मतिर्विगत-त्रपोऽहम्।
बालं विहाय जल-संस्थितमिन्दुबिम्ब-
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम्॥३॥

हिन्दी पद्य : हूँ बुद्धिहीन, फिर भी बुध-पूज्य-पाद,-
तैयार हूँ स्तवन को निर्लज्ज हो के।
है और कौन जग मे तज बाल को जो,
लेना चहे सलिल-संस्थित-चन्द्र-बिम्ब ॥३॥

अन्वयार्थ :

विबुध —	देवों के द्वारा
अर्चित —	पूजित हैं
पादपीठ —	चरण रखने का आसन जिनका, ऐसे हे जिनेन्द्र देव।
बुद्धया —	बुद्धि से
विना अपि —	बिना भी-रहित होने पर भी
अहम् —	मैं मानतुङ्ग
स्तोतुम —	आपकी स्तुति करने के लिए
समुद्यतमतिः —	उद्यतबुद्धि हुआ हूँ
बालम् —	बालक के
विहाय —	सिवाय
अन्यः —	अन्य
कः —	कौन
जनः —	मनुष्य
जल-संस्थितम् —	जल में स्थित
इन्दुबिम्बम् —	चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को
सहसा	एकाएक
ग्रहीतुम —	पकड़ने के लिए
इच्छति —	इच्छा करता है

भावार्थ — हे भगवन्! आप देवों के द्वारा वन्दनीय है, और मैं बुद्धिविहीन हूँ। किन्तु फिर भी धीठ होकर आपकी स्तुति करने के लिए उद्यत हुआ हूं। यह मेरी निरी बालचेष्टा ही है। क्योंकि

जल में पडे हुए चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को पकड़ने के लिए बालक के सिवाय और कौन इच्छा कर सकता है? कोई भी नही।

वक्तुं गुणान् गुण-समुद्र ! शशाङ्क कान्तान्,
कस्ते क्षमः सुर-गुरु-प्रतिमोऽपि बुद्धया।
कल्पान्त-काल-पवनोद्धत-नक्र-चक्र,
को वा तरीतु-मलमम्बु-निधिं भुजाभ्याम् ॥४॥

हिन्दी पद्य : होवे बृहस्पति-समान सुबुद्धि तो भी,
है कौन जो कह सके तव सद्-गुणों को।
कल्पान्त-वायु-वश सिन्धु अलंघ्य जो है,
है कौन जो तिर सके, उसको भुजा से ॥४॥

अन्वयार्थ :

गुणसमुद्र —	हे गुणो के सागर!
ते —	तुम्हारे
शशाङ्क —	चन्द्रमा के समान
कान्तान् —	उज्ज्वल
गुणान् —	गुणो को
वक्तुं —	कहने के लिए
बुद्धया —	बुद्धि से
सुर-गुरु —	देवों के गुरु बृहस्पति के
प्रतिमः —	सदृश
अपि —	भी
कः —	कौन
क्षमः —	समर्थ है?
कल्पान्तकाल —	प्रलयकाल की
पवन —	प्रचण्ड वायु से
उद्धत्त —	उछलते हुए

नक्रचक्रम् —	मगर-मच्छों से युक्त
अम्बुनिधिम् —	समुद्र को
भुजाभ्याम् —	दो भुजाओं से
तरीतुम् —	तैरने के लिए
को वा —	कौन पुरुष
अलम् —	समर्थ हो सकता है? (कोई भी नहीं)

भावार्थ—प्रलय काल की प्रचण्ड वायु से उछलते हुए मगरमच्छादि वाले भयानक समुद्र को अपनी भुजाओं से पार करने के लिए कौन सामर्थ्य रखता है? अर्थात् कोई भी ऐसे भयानक समुद्र को भुजाओं से पार नही कर सकता। इसी प्रकार हे भगवान्! चन्द्र के समान निर्मल आपके अनन्त गुणों का वर्णन कौन कर सकता है? भले ही वह बुद्धि में बृहस्पति के समान भी क्यों न हो?

सोऽहं तथापि तव भक्ति-वशान्मुनीश।
कर्तु स्तवं विगत-शक्तिरपि प्रवृत्तः।
प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्य मृगो मृगेन्द्रं,
नाभ्येति किं निज-शिशोः परिपालनार्थम्॥५॥

हिन्दी पद्य : हूँ शक्ति-हीन, फिर भी करने लगा हूँ,
तेरी प्रभो! स्तुति, हुआ वश भक्ति के मैं।
क्या मोह के वश हुआ शिशु को बचाने,
है सामना न करता मृग सिंह का भी॥५॥

अन्वयार्थ :

मुनीश —	हे मुनियों के ईश्वर।
तथापि —	तो भी
सः अहम् —	वह
विगतिशक्तिः —	शक्ति-रहित होकर

अपि —	भी
तव —	तुम्हारी
स्तवं —	स्तुति
कर्तु —	करने के लिए
भक्तिवशात् —	भक्ति के वश से
प्रवृत्तः —	प्रवृत्त हुआ हूं।
मृगः —	हरिण
आत्मवीर्यम् —	अपनी शक्ति को
अविचार्य —	नहीं विचार करके
प्रीत्या —	प्रीति के वश मे होकर
निजशिशोः —	अपने शिशु को
परिपालनार्थ —	बचाने के लिए
किम् —	क्या
मृगेन्द्रम् —	सिंह के सन्मुख
न अभ्येति —	नही जाता है? अर्थात् जाता है।

भावार्थ — हे भगवन्। जैसे हरिण मे शक्ति नही होने पर भी प्रीति के वश होकर अपने बच्चे को बचाने के लिए वह सिंह का सामना करता है, उसी प्रकार शक्ति नही होने पर भी भक्ति के वश से मैं आपकी स्तुति करने के लिए उद्यत हुआ हूँ। आपकी भक्ति ही के कारण स्तुति करने को मै विवश हो गया हूँ।

अल्प-श्रुतं श्रुतवता परिहास-धाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्-
यत्कोकिलः किल मधौ मधुर विरौति,
तच्चाम्र-चारु-कलिका-निकरैक-हेतुः ॥६ ॥

हिन्दी पद्य : हूँ अल्पबुद्धि बुध मानव की हँसी का,
हूँ पात्र, भक्ति तव है मुझको बुलाती।
जो बोलता मधुर कोकिल है मधु में,
है हेतु आम्र-कलिका बस एक उसका ॥६ ॥

अन्वयार्थ :

अल्पश्रुतं —	अल्प शास्त्रों के ज्ञाता
श्रुतवतां —	विद्वानों की
परिहास-धाम —	हंसी का पात्र मै
माम् —	मुझको
त्वद्-भक्तिः —	आपकी भक्ति
एव—	ही
बलात् —	बलपूर्वक
मुखरीकुरुते —	वाचाल (प्रेरित) कर रही है।
कोकिलः —	कोयल
किल —	निश्चय से
मधौ —	वसन्त ऋतु में
यत् —	जो
मधुरं —	मधुर
विरौति —	कूकती-बोलती है
तत् च —	उसमें
आम्र —	आम की
चारुकलिका —	सुन्दर मंजरी का
निकर —	समुदाय ही
एक हेतु —	एक मात्र कारण है

भावार्थ—हे भगवन्। जैसे वसन्त ऋतु में आम की मंजरी का निमित्त पाकर कोयल मीठे वचन वोलती है। उसी प्रकार

आपकी भक्ति का निमित्त पाकर आपकी स्तुति करने के लिए वाचाल हो रहा हूॅ। अन्यथा मै तो अल्प ज्ञानी हूॅ और ज्ञानियों के सामने उपहास का पात्र हूॅ।

त्वत्संस्तवेन भव–सन्तति–सन्निबद्ध,
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीर–भाजाम्।
आक्रांत–लोकमलि–नीलमशेषमाशु,
सूर्यांशु–भिन्नमिव शार्वरमन्धकारम्॥७॥

हिन्दी पद्य : तेरी किये स्तुति विभो! बहु जन्म के भी,
होते विनाश सब पाप मनुष्य के है।
भौंरे समान अति श्यामल ज्यों अधेरा,
होता विनाश रवि के कर से निशा का॥७॥

अन्वयार्थ

त्वत्संस्तवेन —	आपके स्तवन से
शरीरभाजाम् —	शरीरधारी प्राणियो के
भवसन्तति —	अनेक भवो की परम्परा मे
सन्निबद्धम् —	बधे हुए
पापं —	पाप
क्षणात् —	क्षणभर में
क्षयम् —	क्षय को
उपैति —	प्राप्त हो जाते है
इव —	जैसे
आक्रान्तलोकम् —	लोक मे व्याप्त
अलिनीलम् —	भौंरे के समान काला

शार्वरम् —	रात्रि का
अन्धकारम् —	अन्धकार
आशु —	शीघ्र
सूर्यांशुभिन्नम् —	सूर्य की किरणों से छिन्न-भिन्न हो जाता है

भावार्थ — जैसे सूर्य की किरणों से रात्रि का लोक मे व्याप्त घोर अन्धकार शीघ्र समूल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार हे भगवन्! आपकी स्तुति करने से प्राणियों के असंख्य भवो में बंधे हुए पाप-कर्म भी क्षण भर में सर्वथा नष्ट हो जाते है।

मत्वेति नाथ। तव संस्तवनं मयेद-,
मारभ्यते तनुधियापि तव प्रभावात्।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनी-दलेषु,
मुक्ताफल-द्युतिमुपैति ननूद-बिन्दुः॥८॥

हिन्दी पद्य : यों मान, की स्तुति शुरु तुझ अल्पधी ने,
तेरे प्रभाववश नाथ! वही हरेगी।
सत्-लोक के हृदय को जलबिन्दु भी तो,
मोती समान नलिनी-दल पै सुहाते॥८॥

अन्वयार्थ

हे नाथ! —	हे स्वामिन्।
इति मत्वा —	ऐसा मानकर
तनुधिया —	अल्प बुद्धि
अपि —	भी
मया —	मेरे द्वारा
इदं —	यह
तव —	तुम्हारा

संस्तवनम् —	स्तवन
आरभ्यते —	प्रारम्भ किया जा रहा है।
तव —	आपके
प्रभावात् —	प्रभाव से (यह स्तवन)
सतां —	सज्जनो के
चेतः —	चित्त को
हरिष्यति —	हरण करेगा
ननु —	निश्चय से
उदबिन्दुः —	जल की बूद
नलिनीदलेषु —	कमलिनी के पत्तो पर
मुक्ताफल —	मुक्ताफल (मोती) की
द्युतिम् —	कान्ति (शोभा) को
उपैति —	प्राप्त होती है

भावार्थ — जैसे कमलिनी के पत्तों पर पडी हुई जल की बूॅंद भी उन पत्तो के प्रभाव से मोती के समान शोभा पाती है, उसी प्रकार मुझ अल्पज्ञ द्वारा रचित यह साधारण स्तोत्र भी आपके प्रभाव से सज्जन पुरुपो के मन को अवश्य ही हरण करेगा।

आस्ता तव स्तवन मस्त–समस्त–दोप,
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्त्र–किरणः कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेपु जलजानि विकास–भाञ्जि॥९॥

हिन्दी पद्य · निर्दोप दूर तव हो स्तुति का बनाना,
तेरी कथा तक हरे जग के अघो को।
हो दूर सूर्य, करती उसकी प्रभा ही,
अच्छे प्रफुल्लित सरोजनिको सरो मे॥९॥

अन्वयार्थ : तव —	(हे भगवन्) तुम्हारा
अस्तसमस्त दोषं —	समस्त दोषों से रहित (निर्दोष)
स्तवनं —	स्तवन (तो)
दूरे —	दूर
आस्ताम् —	रहे
त्वत्संकथा अपि —	तुम्हारे नाम की कथा भी
जगतां —	जगज्जनों के
दुरितानि —	पापों को
हन्ति —	नष्ट कर देती है।
सहस्त्रकिरणः —	सूर्य
दूरे (आस्तां) —	दूर ही रहे
प्रभा —	(उसकी) प्रभा
एव —	ही
पद्माकरेषु —	सरोवरों में
जलजानि —	कमलों को
विकासभाञ्जि —	विकसित
कुरुते —	कर देती है।

भावार्थ — हे भगवन्! आपके निर्दोष स्तवन करने का क्या महत्त्व बताऊँ, केवल आपके नाम का उच्चारण ही संसारी जीवों के समस्त पापों का विनाश कर देता है। सूर्य का उदय होना तो दूर रहे पर उसकी अरुण-प्रभा ही सरोवरों के कमलों को खिला देती है।

नात्यद्भुतं भुवन-भूषण! भूतनाथ!
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥१०॥

हिन्दी पद्य : आश्चर्य क्या भुवनरत्न।
भले गुणो से तेरी किये स्तुति बने तुझसे मनुष्य।
क्या काम है जगत मे उन मालिकों का,
जो आत्म-तुल्य न करे निज आश्रितो को ॥१० ॥

अन्वयार्थ :

भुवन -भूषण —	हे तीन भुवन के आभूपण।
भूतनाथ —	हे जगन्नाथ।
भूतैः —	वास्तविक
गुणैः —	गुणों के द्वारा
भवन्तम् —	आपकी
अभिष्टुवन्तः —	स्तुति करने वाले पुरुष
भुवि —	भूतल पर
भवतः—	आपके
तुल्या —	समान
भवन्ति —	हो जाते है
(इति) —	यह बात
अति-अद्भुतम् —	अति आश्चर्य-कारक
न —	नहीं है।
वा —	अथवा
मनु—	निश्चय से
तेन —	उस स्वामी से
किम् —	क्या (लाभ है)
य —	जो
इह —	इस लोक मे
आश्रितम् —	[illegible] आश्रित मनुष्य को
भूत्या —	ऐ.श्व से
आत्मसमम् —	अपने समान
न करोति —	नहीं करता है।

भावार्थ — हे भुवनभूषण! हे जगन्नाथ! जो भव्य पुरुष आपकी स्तुति करते हैं, वे आपके ही समान हो जाते हैं, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। संसार में जो स्वामी अपने आश्रित सेवक को वैभव देकर अपने जैसा समृद्ध नही बनाता, उसकी सेवा से क्या लाभ है? कुछ भी नहीं।

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेष-विलोकनीयं
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः।
पीत्वा पयः शशिकर-द्युति दुग्ध-सिन्धोः,
क्षारं जलं जल-निधेरसितुं क इच्छेत्॥११॥

हिन्दी पद्य : अत्यन्त सुन्दर विभो तुझको विलोक,
अन्यत्र आँख लगती नही मानवो की।
क्षीराब्धि का मधुर सुन्दर वारि पीके,
पीना चहे जलधि का जल कौन खारा॥११॥

अन्वयार्थ :

अनिमेष —	अपलक दृष्टि से
विलोकनीयम् —	देखने के योग्य
भवन्तम् —	आपको
दृष्ट्वा —	देखकर
जनस्य—	मनुष्य की
चक्षुः —	आँख
अन्यत्र—	और कही पर
तोषम् —	संतोष को
न उपयाति —	नही पाती है
शशिकरद्युति—	चन्द्र-किरणों के समान कान्ति वाले
दुग्ध-सिन्धो —	क्षीर सागर के

पयः —	जल को
पीत्वा—	पीकर
कः —	कौन मनुष्य
जलनिधेः—	लवणसमुद्र के
क्षारम्—	खारे
जलम्—	जलको
असितुं—	पीने के लिए
इच्छेत्—	इच्छा करेगा? कोई भी नही।

भावार्थ—हे भगवन्! आप अत्यन्त सुन्दर है। जो पुरुप अपलक दृष्टि से दर्शनीय आपको एक बार अच्छी तरह से देख लेते है, उनकी दृष्टि फिर अन्य देवों मे सन्तोष नही पाती है। क्षीर-सागर का दूध के समान मिष्ट जल पीकर कौन मनुष्य लवणसमुद्र के खारे पानी को पीना चाहेगा? कोई भी नही पीना चाहेगा।

यैः शान्त–राग–रुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रिभुवनैक–ललाम–भूत!
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानमपर नहि रूपमस्ति ॥१२॥

हिन्दी पद्य : जो शान्ति के सुपरमाणु प्रभो तनू मे,
तेरे लगे, जगत में उतने वही थे।
सौन्दर्यसार, जगदीश्वर, चित्तहर्ता
तेरे समान इससे नहिं रूप कोई ॥१२॥

अन्वयार्थ :

त्रिभुवनैक —	हे त्रिभुवन मे एक मात्र अद्वितीय
ललामभूत! —	सौन्दर्य धारक भगवन्!
यैः —	जिन

शान्तरागरुचिभिः—	शान्ति भावों के धारक कान्ति वाले
परमाणुभिः—	परमाणुओं से
त्वम् —	तुम
निर्मापितः—	वनाये गये हो
ते —	वे
अणवः—	परमाणु
अपि —	भी
खलु —	निश्चय से
तावन्त —	उतने
एव —	ही थे।
यत् —	क्योंकि
पृथिव्यां —	पृथिवी पर
ते समानम् —	आपके समान
अपरं—	दूसरा
रूपं —	रूप
नहि—	नहीं
अस्ति—	है

भावार्थ — तीनों लोकों में अद्वितीय सुन्दर रूप के धारक भगवन्! शान्त रस की कान्ति वाले जिन मनोहर परमाणुओं से आपका शरीर रचा गया है, वे परमाणु इस लोक में बस, उतने ही थे, अधिक नहीं। यही कारण है कि संसार मे आपके समान अन्य कोई सुन्दर रूप वाला व्यक्ति दिखाई नहीं देता है।

वक्त्रं क्व ते सुर-नरोरग-नेत्र-हारि,
नि:शेप-निर्जित-जगत्त्रितयोपमानम्।

बिम्बं कलक–मलिन क्व निशाकरस्य,
यद्वासरे भवति पाण्डु–पलाश–कल्पम् ॥१३॥

हिन्दी पद्य : तेरा कहां मुख सुरादिक–नेत्र–रम्य,
सर्वोपमान विजयी जगदीश, नाथ।
त्यो ही कलंकित कहां वह चन्द्र–बिम्ब,
जो ही पडे दिवस मे द्युति–हीन, फीका ॥१३॥

अन्वयार्थ :

सुर —	देव
नर —	मनुष्य और
उरग —	नागो के
नेत्र —	नेत्रो को
हारि —	हरण करने वाला
नि:शेष —	समस्त
निर्जित —	जीती है
जगत्त्रितय —	तीन जगत की
उपमानम् —	उपमाओं को जिसने ऐसा
ते—	आपका
वक्त्रं—	मुख
क्व—	कहाँ! और
निशाकरस्य —	चन्द्रमा का
कलंकमलिनम् —	कलक से मलिन
बिम्बं —	बिम्ब
क्व —	कहां?
यत्—	जो कि
वासरे —	दिन मे
पाण्डु —	पीले–फीके

पलाशकल्पम्— पलाश पत्र के समान
भवति — हो जाता है

भावार्थ — हे भगवन्! आपका सुन्दर मुख देवों, मनुष्यों और नागकुमारों के नेत्रों को मोहित करने वाला और तीनों लोको की समस्त श्रेष्ठ उपमाओं को जीतने वाला है। जो लोग चन्द्र-बिम्ब से आपके मुख की उपमा देते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि चन्द्र बिम्ब तो दिन के समय ढाक के सूखे पत्ते के समान फीका हो जाता और शश या मृग के चिन्ह से मलिन है। पर आपका मुख निर्मल और सदा ही प्रकाशमान रहता है।

सम्पूर्ण-मण्डल-शशाङ्क-कला-कलाप,
शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति।
ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वर ! नाथमेक,
कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टं॥ १४॥

हिन्दी पद्य : अत्यन्त सुन्दर कलानिधि की कला से,
तेरे मनोज्ञ गुण नाथ, फिरें जगों में।
है आसरा त्रिजगदीश्वर का जिन्हों को,
रोके उन्हें त्रिजग मे फिरते न कोई॥ १४॥

अन्वयार्थ : **त्रिजगदीश्वर—** हे तीन जगत के ईश्वर
तव— आपके
सम्पूर्ण मण्डल शशांक— पूर्णिमा के चन्द्र-मण्डल की
कला-कलाप— कला-समूह के समान
शुभ्राः — उज्ज्वल
गुणाः — गुण
त्रिभुवनम्— तीन लोकों को
लङ्घयन्ति— उल्लंघन करते हैं।

ये—	जिन्होंने
एकम्—	एकमात्र
नाथम्—	आप जैसे स्वामी का
संश्रिता—	आश्रय लिया है
तान्—	उन्हे
यथेष्टं—	स्वेच्छानुसार
संचरतः—	विचरण करने से
कः—	कौन
निवारयति—	रोक सकता है? कोई भी नही।

भावार्थ— हे त्रिभुवन के ईश्वर! पूर्णमासी के चन्द्र की कलाओ के समूह के समान आपके अत्यन्त निर्मल गुण त्रिभुवन मे सर्वत्र व्याप्त हो रहे है अर्थात् सर्वत्र फैले हुए है। सो यह ठीक ही है- जो आप जैसे विश्व के एक मात्र प्रभु का आश्रय पाये हुए है उन्हे इच्छानुसार विचरने से भला कौन रोक सकता है? अर्थात् कोई भी नही रोक सकता।

चित्र किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभिर्,
नीत मनागपि मनो न विकार-मार्गम्।
कल्पान्तकाल-मरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रि-शिखरं चलितं कदाचित्॥ १५॥

हिन्दी पद्य : देवागना हर सकीं मन को न तेरे,
आश्चर्य नाथ, इसमे कुछ भी नही है।
कल्पान्त के पवन से उड़ते पहाड़,
पै मन्दराद्रि हिलता तक है कभी क्या॥ १५॥

अन्वयार्थ : यदि—	यदि
त्रिदशाङ्गनाभिः—	देवांगनाओं के द्वारा
ते—	आपका
मनः—	मन
मनाक्—	जरा-सा
अपि—	भी
विकारमार्गम्—	विकार भाव को
न नीतम्—	नहीं प्राप्त हुआ (तो)
अत्र—	इसमें
किम्—	क्या
चित्रम्—	आश्चर्य है?
चलिताचलेन—	पर्वतो को चलायमान करने वाले
कल्पान्तकाल—	प्रलयकाल के
मरुता—	पवन से
किम्—	क्या
मन्दराद्रिशिखरम्—	सुमेरु का शिखर
कदाचित—	कभी
चलितम्?—	चलायमान हुआ है?

भावार्थ— हे वीतराग भगवन् ! स्वर्ग की सुन्दर अप्सराओं ने अपने हाव-भाव-विलासों द्वारा आपको विचलित करने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु आपका चित्त जरा-सा भी विचलित नहीं हुआ, सो इसमें कुछ भी आश्चर्य नही है। प्रलयकाल का प्रचण्ड पवन वडे-वड़े पहाड़ों को चलायमान कर देता है, किन्तु क्या कभी वह गिरिराज सुमेरु के शिखर को भी कम्पित कर सका है? कदापि नही।

निर्धूम- वर्तिरपवर्जित–तैलपूरः,
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि।
गम्यो न जातु मरुतां चलिता–चलानां,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ ! जगत्प्रकाशः॥ १६ ॥

हिन्दी पद्य : बत्ती नही, नहि धुआँ, नहि तैलपूर,
भारी हवा तक नहीं सकती बुझा है।
सारे तिलोक बिच है, करता उजेला,
उत्कृष्ट दीपक विभो ! द्युतिकारि तू है॥ १६ ॥

अन्वयार्थ :

त्वम्—	(हे भगवन् !) तुम
निर्धूमवर्तिः—	धूम और बत्ती से रहित हो,
अपवर्जिततैलपूरः—	तैल–पूर से रहित हो, (फिर भी)
इदं—	इस
कृत्स्नम्—	समस्त
जगत्त्रयम्—	त्रिजगत को
प्रकटीकरोषि—	प्रकाशित कर रहे हो। तथा
चलिताचलानाम्—	पर्वतों को चलायमान करने वाली
मरुतां—	वायु के
जातु—	कदाचित् भी
गम्यः—	गम्य
न—	नही हो
जगत्प्रकाशः—	अतः (आप) जगत्–प्रकाशक
अपरः—	अपूर्व
दीपः—	दीपक
असि—	हो।

भावार्थ- हे नाथ ! आप जगत् को प्रकाशित करने वाले एक अलौकिक दीपक हो। आपको न बत्ती की आवश्यकता है, न तेल की

अपेक्षा है और न आपसे धुआं ही निकलता है। बड़े-बड़े पर्वतों को कम्पित कर देने वाला प्रचण्ड पवन भी आप पर कुछ भी असर नहीं कर सकता। लौकिक दीपक तो घर के किसी एक कोने को ही प्रकाशित करता है और वायु के हल्के से झोके से ही बुझ जाता है, किन्तु आप तो तीनों लोकों को एक साथ प्रकाशित करते हैं। अतएव आप अद्भुत दीपक हो।

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहु-गम्यः,
स्पष्टीकरोपि महसा युगपज्जगन्ति।
नाम्भो-धरोदर-निरुद्ध-महाप्रभावः,
सूर्यातिशायि-महिमाऽसि मुनीन्द्र लोके ॥१७॥

हिन्दी पद्य : तू हो न अस्त, तुझको ग्रसता न राहु,
पाते प्रकाश तुझसे जग एक साथ।
तेरा प्रभाव रुकता नहिं वादलों से,
तू सूर्य से अधिक है महिमानिधान! ॥१७॥

अन्वयार्थ :

मुनीन्द्र —	हे मुनीश्वर!
कदाचित् —	तुम कभी भी
अस्तं —	अस्त
न उपयासि —	नहीं होते हो,
न राहुगम्यः —	न राहु के गम्य हो,
सहसा —	सहज ही
जगन्ति —	तीनों लोकों को
युगपत् —	एक साथ
स्पष्टीकरोषि —	प्रकाशित करते हो।
अम्भोधरोदर —	मेघों के द्वारा आपका
निरुद्ध महाप्रभावः—	महाप्रभाव निरुद्ध

न (अतः) — नही होता है, इसलिए
लोके — लोक में आप
सूर्यातिशायि — सूर्य से भी अतिशय युक्त
महिमा — महिमा वाले
असि — हो।

भावार्थ : हे मुनीश्वर! आप सूर्य से भी अधिक विलक्षण महिमाशाली है। सूर्य सध्या के समय अस्त हो जाता है, किन्तु आपका केवल ज्ञानरूप सूर्य सदैव प्रकाशमान रहता है। सूर्य को राहु ग्रस लेता है, किन्तु आपके ज्ञान–आलोक को कोई भी ग्रस नही सकता। सूर्य सीमित क्षेत्र को प्रकाशित करता है और वह भी क्रम–क्रम से। किन्तु आप तो तीनो जगत् को एक साथ प्रकाशित करते है। सूर्य का प्रकाश मेघो से ढंक दिया जाता है, किन्तु आपके महाप्रभाव को ससार मे कोई भी पदार्थ अवरुद्ध नही कर सकता। इसलिए आप सूर्यातिशायि महिमा वाले हो।

नित्योदयं दलित - मोह - महान्धकारं,
गम्यं न राहु–वदनस्य न वारिदानाम्।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति,
विद्योतयज्जगदपूर्वशशांक - बिम्बम्॥१८॥

हिन्दी पद्य : मोहान्धकार हरता, रहता उगा ही,
जाता न राहु–मुख मे, न छुपे घनों से।
अच्छे प्रकाशित करें, जग को सुहावे,
अत्यन्त कान्तिधर नाथ मुखेन्दु तेरा॥१८॥

अन्वयार्थ : **तव —** आपका
मुखाब्जम् — मुख–कमल

नित्योदयम् —	सदा काल उदित रहने वाला
दलितमोहमहान्धकारम् —	मोहरूप महान्धकार का विनाशक
अनल्पकान्ति —	महाकान्तिशाली है,
न —	नहीं
राहुवदनस्य —	राहु मुख के (केतु के)
गम्यम् —	गम्य है, (किन्तु)
न वारिदानाम् —	न मेघों के
गम्यम् —	गम्य है
जगत् —	जगत् को
विद्योतयत् —	प्रकाशित करता हुआ
अपूर्वशशांकबिम्बम् —	अपूर्व चन्द्र-बिम्ब के समान
विभ्राजते —	सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ : हे भगवन्! आपका मुख-कमल एक विलक्षण चन्द्रमा है, क्योकि चन्द्रमा तो केवल रात्रि में ही उदित होता है, किन्तु आपका मुख-चन्द्र सदा ही उदयरूप रहता है, चन्द्रमा थोड़े से बाह्य अन्धकार का नाश करता है, किन्तु आपका मुख-चन्द्र मोहरुपी आन्तरिक घोर अन्धकार का विनाश करता है। चन्द्रमा को राहु केतु ग्रसता है और मेघ भी आच्छादित कर लेते हैं, किन्तु आपके मुख को आच्छादित करने वाला कोई नही है। चन्द्रमा पृथ्वी के कुछ भाग को ही प्रकाशित करता है। आपका मुख-चन्द्र सम्पूर्ण लोक को प्रकाशमान करता है। चन्द्रमा अल्पकान्ति का धारक है, किन्तु आपका मुख अनन्त कान्ति धारक है। इसलिए आपका मुख एक अपूर्व ही चन्द्र है।

कि शर्वरीपु शशिनाह्नि विवस्वता वा,
युष्मन्मुखेन्दु-दलितेपु तमःसु नाथ।
निष्पन्न-शालि-वन-शालिनि जीव लोके,
कार्यं कियज्जलधरैर्जल-भार-नम्रैः ॥१९॥

हिन्दी पद्य : क्या भानु से दिवस मे, निशि मे शशी से,
तेरे प्रभो सुमुख से तम नाश होते।
अच्छी तरह पक गया जब धान, बोलो,
क्या काम है जल भरे इन बादलो से॥१९॥

अन्वयार्थ :

नाथ —	हे स्वामिन!
तमः सु—	समस्त अन्धकार
युष्मन्मुखेन्दु —	आपके मुखचन्द्र द्वारा
दलितेषु —	नष्ट कर दिये जाने पर
शर्वरीषु —	रात्रि में
शशिना —	चन्द्रमा से
किम् —	क्या प्रयोजन है,
वा —	और
अह्नि —	दिन मे
विवस्वता —	सूर्य से
कार्य —	क्या प्रयोजन है?
जीवलोके —	संसार मे
निष्पन्नशालिवनशालिनि —	खेतो मे धान्य के पक जाने पर
जलभारनम्रैः —	जल भरे हुए
जलधरैः —	मेघो से
कियत् —	क्या प्रयोजन है? कुछ भी नही।

भावार्थ : हे नाथ! जब तक आपका मुखचन्द्र ससार के समस्त अन्धकार का नाश कर सर्व विश्व को प्रकाशित कर रहा है, तब रात्रि मे चन्द्र की और दिन मे सूर्य की क्या आवश्यकता और प्रयोजन है। जब खेतो मे धान्य पक चुका है तब जल से भरे हुए मेघो की क्या आवश्यकता है? अर्थात् कुछ भी नही।

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैवं तथा हरि-हरादिषु नायकेषु।
तेजः स्फुरन्-मणिषु याति यथा महत्त्वं,
नैवं तु काच-शकले किरणाकुलेऽपि ॥२० ॥

हिन्दी पद्य : जो ज्ञान निर्मल विभो तुममे सुहाता,
भाता नहीं वह कभी पर देवता में।
होती मनोहर छटा मणिमध्य जो है,
सो काच में नहिं, पडे रवि-बिम्ब के भी ॥२० ॥

अन्वयार्थ :

कृतावकाशं —	पूर्ण रूप से विकसित
ज्ञानं —	ज्ञान
यथा —	जैसा
त्वयि —	आप में
विभाति —	सुशोभित हो रहा
एवं —	ऐसा
हरि-हरादिषु —	हरि (विष्णु) हर (महेश) आदि
नायकेषु —	नायकों (देवों) में
न —	नही है
यथा —	जैसा
स्फुरन्मणिषु —	प्रकाशमान मणियों में
तेजः —	तेज
महत्त्वं —	महत्त्व को
याति —	प्राप्त होता है
तथा —	वैसा
किरणाकुले अपि —	सूर्य की किरणो से चमकते हुए भी
काचशकले —	काच के टुकड़े मे
न विभाति —	नहीं शोभित होता है।

भावार्थ : हे भगवन्! तीनो लोकों को प्रकाशित करने वाला जैसा निर्मल ज्ञान आप मे पूर्ण रूप से उद्भासित है, वैसा ब्रह्मा, विष्णु आदि अन्य लौकिक देवों में नही है। यह ठीक भी है–क्यो कि जैसा प्रकाशमान तेज बहुमूल्य मणियों मे पाया जाता है, वैसा सूर्य की किरणों से चमकने वाले काच के टुकडे में भी कहाँ संभव है?

मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा–
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः–
कश्चिन्मनो हरति नाथ! भवान्तरेऽपि ॥२१ ॥

हिन्दी पद्य : देखे भले, अयि विभो, पर देवता ही,
देखे जिन्हे हृदय आ तुझ में रमे ये।
तेरे विलोकन किये फल क्या प्रभो जो,
भाता हमे न मन मे पर जन्म में भी ॥२१ ॥

अन्वयार्थ :

नाथ —	हे स्वामिन्!
हरि-हरादयः—	हरि–हर आदि देवों को
दृष्टा —	देखा
एव —	यही
वरं —	उत्तम है
मन्ये —	ऐसा मै मानता हूं
येषु —	क्योकि उनके
दृष्टेषु —	देख लेने पर ही
हृदयम् —	हृदय
त्वयि —	आप में
तोषम् —	सन्तोष को

एति —	प्राप्त होता है
भवता —	(अथवा) आपको
वीक्षितेन —	देखने से
किम् —	क्या (लाभ)
येन —	जिससे कि
भुवि —	भूमण्डल पर
अन्यः —	अन्य
कश्चित् —	कोई देव
भवान्तरे —	जन्मान्तर में
अपि —	भी
मनो —	(मेरे) मन का
न हरति —	हरण नहीं कर सकता है।

भावार्थ : हे नाथ! मैं तो आपको देखने से पहले हरि-हर आदि अन्य देवों का देखना अच्छा मानता हूँ, क्योकि उनके देखने के बाद भी हृदय आप में ही सन्तोष पाता है अथवा आपको देखने से क्या लाभ है? क्योकि आपके देखने के बाद जन्मान्तर में भी मेरा मन अन्य कोई देव नही हर पाता। सारांश —दूसरों को देखने से तो आपमें सन्तोष प्राप्त होता है, यह लाभ है और आपको देख लेने के बाद भी अन्य देवों की ओर चित्त जाता ही नहीं, यह हानि है। (यह ब्याज-निन्दा और ब्याज-स्तुति है)

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशु-जालम्॥२२॥

हिन्दी पद्य : माएँ अनेक जनती जग मे सुतों को,
है, किन्तु वे न तुझ से सुत की प्रसूता।
सारी दिशा धर रही बहु तारिकाए,
पै एक पूरव दिशा रवि को जगाती ॥२२॥

अन्वयार्थ :

शतानि —	सैकड़ो
स्त्रीणाम् —	स्त्रियां
शतशः —	सैकड़ों
पुत्रान् —	पुत्रों को
जनयन्ति —	जन्म देती है, (परन्तु)
अन्या —	अन्य कोई
जननी —	माता
त्वदुपमम् —	आप जैसे
सुतं —	पुत्र को
न प्रसूता —	जन्म नही दे सकी
सर्वाः—	सभी
दिशः —	दिशाएं
भानि —	ताराओं को
दधति —	धारण करती हैं (किन्तु)
स्फुरद् —	देदीप्यमान
अंशुजालम् —	किरणो के समूह वाले
सहस्त्ररश्मिम् —	सूर्य को
प्राची एव —	एक पूर्व ही
दिक् —	दिशा
जनयति—	उत्पन्न करती है।

भावार्थ : ससार मे अनेकों ही स्त्रियां सैकड़ो ही पुत्रो को उत्पन्न करती है, किन्तु आपके समान महाप्रतापी पुत्र – रत्न

को अन्य किसी माता ने जन्म नहीं दिया। सो ठीक ही है, सभी दिशाए असंख्य ताराओं को धारण करती है परन्तु प्रकाशमान सूर्य को केवल एक पूर्व दिशा ही प्रकट करती है।

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस,
मादित्य-वर्णममलं तमसः परस्तात्।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,
नान्यः शिवः शिव-पदस्य मुनीन्द्र! पन्थाः ॥२३॥

हिन्दी पद्य : योगी तुझे परम पुरुष हैं बताते,
आदित्य वर्ण मल-हीन, तमिस्त्रहारी।
पाके तुझे जय करें सब मौत को भी,
है और ईश्वर नहीं वर मोक्ष-मार्ग ॥२३॥

अन्वयार्थ : मुनीन्द्र -	हे मुनीश्वर!
मुनयः-	मुनिजन
त्वाम्-	आपको ही
आदिदत्यवर्णम्-	सूर्य के समान तेजस्वी
अमलम्-	निर्मल
तमसः परस्तात्-	अन्धकार से पर
परमम्-	परम
पुमान्सम्-	पुरुष
आमनन्ति-	मानते हैं और
त्वाम् एव-	आपको ही
सम्यक्-	भलीभाँति
उपलभ्य-	प्राप्त करके
मृत्युम्-	मृत्यु को

जयन्ति-	जीतते है, अतः आपके सिवाय
शिवपदस्य-	मोक्षपद का
अन्यः-	दूसरा
शिवः-	कल्याणकारी
पन्थाः-	मार्ग
न (अस्ति)-	नही है।

भावार्थ : हे मुनीन्द्र! मुनिजन आपको सूर्य के समान तेजस्वी, रागद्वेषादि से रहित निर्मल और अज्ञानरूप अन्धकार से विमुक्त परम पुरुष मानते है। जो लोग श्रेष्ठ हृदय से आपकी उपासना करते हैं, वे मृत्यु पर विजय पाते हैं। इसलिए आपको छोडकर कल्याणकारी मुक्ति का मार्ग अन्य नही है।

त्वामव्यय विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं,
ब्रह्माण्मीश्वर मनन्तमनङ्ग – केतुम्।
योगीश्वर विदित–योगमनेकमेकं,
ज्ञान–स्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः॥२४॥

हिन्दी पद्य : योगीश, अव्यय, अचिन्त्य अनङ्ग केतु,
ब्रह्म असंख्य, परमेश्वर एक नाना।
ज्ञानस्वरूप, विभु, निर्मल, योगवेत्ता,
त्यो आद्य, सन्त तुझको कहते अनन्त॥२४॥

अन्वयार्थ : सन्तः-	सन्त पुरुष
त्वाम्-	आपको
अव्ययम्-	अक्षय,
विभुम्-	(ज्ञान रूप से) व्यापक,
अचिन्त्यम्-	चिन्तन मे नहीं आने वाले,

असंख्यम्-	असंख्य गुणों से युक्त
आद्यम्-	प्रथम
ब्रह्माणम्-	ब्रह्मा
ईश्वर-	ईश्वर
अनन्तम् -	अनन्त
अनंगकेतुम्-	अनङ्गकेतु-कामविनाशक
योगीश्वरम्-	योगियों के ईश्वर
विदितयोगम्-	योग के ज्ञायक
अनेकम्-	गुण-पर्याय की अपेक्षा अनेक रूप
एकम्-	जीव द्रव्य की अपेक्षा एक रूप
ज्ञानस्वरूपम् -	केवलज्ञानस्वरूप
अमलं-	कर्म-मल से रहित-निर्मल
प्रवदन्ति-	कहते हैं।

भावार्थ : हे भगवन्! आप कभी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते, इसलिए आप 'अव्यय' हैं। आपका ज्ञान सर्व पदार्थो को जानता है, इसिलए आप 'व्यापक' है। बड़े ज्ञानी पुरुष भी आपके पूर्ण स्वरूप का चिन्तवन नहीं कर पाते, इसलिए आप 'अचिन्त्य' हैं। आपके गुण गणना से परे हैं, इसलिए असंख्य है। चौबीस तीर्थकरों में सबसे पहिले हुए, इसलिए आप आद्य है। कर्मभूमि के प्रारम्भ मे जीवन-निर्वाह की कलाओं की शिक्षा देने तथा मोक्ष मार्ग का विधान करने के कारण 'ब्रह्मा' हैं। आप अनन्त-शक्ति के धारक होने से 'ईश्वर' हैं। अनन्त गुणों के धारक होने से आप 'अनन्त' हैं। काम को जीतने से आप 'अनङ्गकेतु' कहलाते हैं। योगियों के भी ईश्वर होने से आप 'योगीश्वर' हैं। आप ध्यानयोग के ज्ञाता है, गुण-पर्याय की

अपेक्षा अनेक और द्रव्य की अपेक्षा एक हैं। ज्ञानस्वरूप हैं और निर्मल हैं। ऐसा सन्तजन आपके गुणों का वर्णन करते हैं।

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित-बुद्धि-बोधात्,
त्वं शङ्करोऽसि भुवन-त्रय-शङ्करत्वात्।
धाताऽसि धीर! शिवमार्ग-विधेर्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन्पुरुषोत्तमोसि॥२५॥

हिन्दी पद्य: तू बुद्ध है विबुध-पूजित बुद्धिवाला,
कल्याण-कर्तृवर शङ्कर भी तुही है।
तू मोक्ष मार्ग-विधि-कारक है विधाता,
है व्यक्त नाथ, पुरुषोत्तम भी तुही है॥२५॥

अन्वयार्थ :

विबुध —	देवताओ के द्वारा
अर्चित—	पूजित
बुद्धिबोधात् —	केवलज्ञानी होने से
त्वम् एव —	तुम ही
बुद्धः —	बुद्ध हो
भुवनत्रय—	तीन भुवन में
शङ्करत्वात्—	सुख करने से
त्वम्—	तुम ही
शङ्करः—	शंकर
असि —	हो
धीर —	हे धीर वीर!
शिवमार्ग—	मोक्षमार्ग की
विधेः विधानात्—	विधि के विधान करने से
त्वं धाता—	तुम ही विधाता (ब्रह्मा)

असि—	हो
भगवन्—	(इस प्रकार) हे भगवन्!
व्यक्तं—	स्पष्ट रूप से
त्वम् एव—	आपही
पुरुषोत्तमः—	पुरुपोत्तम (विष्णु)
असि—	हो।

भावार्थ : हे प्रभो! आपमें बुद्धि का पूर्ण रूप से विकास हुआ है, अतः आप ही बुद्ध हो। तीन लोक के कल्याण करने वाले है, अतः आप शंकर हो। हे धीर! आपने रत्नत्रयरूप मोक्ष मार्ग की विधि का उपदेश दिया है, अतः आप ही विधाता हो और हे भगवन्! संसार के सर्व पुरुपों मे उत्तम होने से आप ही सच्चे पुरुपोत्तम (विष्णु) हो।

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्ति-हराय नाथ!
तुभ्यं नमः क्षिति-तलामल-भूषणाय!
तुभ्यं नमस्त्रि-जगतः परमेश्वराय!
तुभ्यं नमो जिन! भवोदधि-शोपणाय! ॥२६॥

हिन्दी पद्य : त्रैलोक्य-अर्तिहर नाथ तुझे नमूँ मै
हे भूमि के विमल रत्न तुझे नमूँ मैं
हे ईश ! सर्व जग के तुझ को नमूँ मैं
मेरे भवोदधि-विनाशी ! तुझे नमूँ मैं ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ :

नाथ —	हे स्वामिन्!
त्रिभुवन—	तीन भुवन की
आर्तिहराय—	पीड़ा के हरने वाले
तुभ्यं—	आपको
नमः—	नमस्कार है
क्षितितल—	भूतल के
अमलभूपणाय—	निर्मल आभूपण
तुभ्यं—	आपको

नमः—	नमस्कार है
त्रिजगतः—	तीन जगत् के
परमेश्वराय—	परमेश्वर
तुभ्यं—	आपको
नमः—	नमस्कार है
जिन—	हे जिनेन्द्र।
भवोदधि—	भव-सागर के
शोषणाय—	सुखाने वाले
तुभ्यं—	आपको
नमः—	नमस्कार है।

भावार्थ : हे नाथ। आप तीनों लोको की पीड़ा के हर्त्ता है, भूमण्डल के आप निर्मल आभूपण है, तीनो लोकों के परमेश्वर है और संसार रूपी समुद्र को सुखाने वाले है, अर्थात् जीवो को मोक्ष पहुॅचाने वाले हैं, अतः आपको मेरा बारम्बार नमस्कार है।



को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै-
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश।
दोषैरुपात्त-विबुधाश्रय-जात-गर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥२७॥

हिन्दी पद्य : आश्चर्य क्या गुण सभी तुम में समाये,
अन्यत्र क्योंकि न मिली उनको जगह ही।
देखा न नाथ, मुख भी तव स्वप्न में भी,
पा आसरा जगत् का सब दोप ने तो ॥२७॥

अन्वयार्थ :	**मुनीश—**	हे मुनियों के ईश्वर!
	यदि नाम—	यदि
	त्वम्—	आप
	निरवकाशतया—	अवकाश-रहित (ठसाठस)
	अशेषैः—	समस्त
	गुणैः—	गुणों के द्वारा
	संश्रितः—	आश्रय को प्राप्त हुए है, तो
	अत्र—	इसमें
	कः—	कौन-सा
	विस्मयः—	आश्चर्य है।
	उपात्त—	प्राप्त किया है
	विविध—	अनेक पुरुषों का
	आश्रयजात—	आश्रय जिन्होने, अतएव
	गर्वैः—	गर्व को प्राप्त
	दोषैः—	दोपों के द्वारा
	कदाचित्—	कभी
	स्वप्नान्तरे अपि—	स्वप्न दशा में भी
	न ईक्षितः—	नहीं देखे गये हो,
	अत्रापि कः विस्मयः—	इसमें भी क्या आश्चर्य है?

भावार्थ : हे मुनिश्वर! विश्व के समस्त सद्‌गुणों ने आप में आश्रय पाया है, अतएव दोपो को आप में जरा-सा भी स्थान नहीं मिला। फलस्वरूप उन्होने अन्य देवताओं में स्थान प्राप्त किया और इसलिए वे गर्व को प्राप्त हो गये। फिर वे स्वप्न में भी कभी आपको लौटकर देखने को नहीं आये, सो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है? जिसे अन्यत्र आदर

मिलेगा, वह भला आश्रय न देने वाले व्यक्ति के पास लौटकर क्यों आयेगा?



उच्चैरशोक–तरु–संश्रितमुन्मयूख–
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम्।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्त – तमो वितान,
बिम्बं रवेरिव पयोधर–पार्श्व–वर्ति ॥२८॥

हिन्दी पद्य : नीचे अशोकतरु के तन है सुहाता,
तेरा विभो, विमलरूप प्रकाशकर्ता।
फैली हुई किरण का, तम का विनाशी,
मानो समीप धन के रवि–बिम्ब ही है ॥२८॥

अन्वयार्थ : उच्चैः— ऊँचे
अशोकतरु— अशोकवृक्ष के नीचे
संश्रितम्— विराजमान
उन्मयूखम्— जिसकी किरणें ऊपर की ओर जा रही है ऐसा
भवतः— आपका
नितान्तम्— अत्यन्त
अमलम्— निर्मल
रूपम्— स्वरूप
स्पष्ट— स्पष्ट रूप से
उल्लसत्— चमकती हुई।
किरणम्— किरणो वाले, तथा
अस्ततमोवितानम्— अन्धकार के विस्तार को नाश करने वाले

पयोधर—	मेघों के
पार्श्ववर्ति—	समीपवर्ती
रवेः बिम्बम्—	सूर्य के बिम्ब के
इव—	समान
आभाति—	शोभायमान हो रहा है।

भावार्थ : हे भगवन्! समवसरण में अशोकवृक्ष के नीचे विराजमान, चमकती और ऊपर की ओर फैलती हुई किरणों वाला आपका निर्मल स्वरूप ऐसा भव्य प्रतीत होता है जैसा कि स्पष्ट रूप से चमकती हुई किरणों वाला एवं अन्धकार के समूह को नष्ट करने वाला सूर्य का बिम्ब सघन मेघों के समीप शोभित होता है। तात्पर्य यह है कि भगवान् आदिनाथ का गौर वर्ण सूर्यबिम्ब के सदृश है और अशोकवृक्ष मेघ के सदृश नील वर्ण। अशोकवृक्ष के सान्निध्य से भगवान का स्वतः तेजस्वी रूप और अधिक तेजस्वी दिखाई देने लगता है। (यह अशोकवृक्ष महाप्रातिहार्य का वर्णन है।)



सिंहासने मणि-मयूख-शिखा-विचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम्।
बिम्बं वियद्विलसदंशु-लता-वितानं,
तुङ्गोदयाद्रि-शिरसीव सहस्ररश्मेः ॥२९॥

हिन्दी पद्य : सिंहासन स्फटिक रत्न जड़ा, उसी में,
भाता विभो! कनककान्त शरीर तेरा।
ज्यों रत्न-पूर्ण उदयाचल शीश पे जा,
फैला स्वकीय किरणें रवि-बिम्ब सोह ॥२९॥

अन्वयार्थ : मणि मयूख-	मणियों की किरण
शिखा-विचित्रे-	पंक्ति से शोभित

सिंहासने—	सिंहासन पर
तव—	आपका
कनकावदातम्—	सुवर्ण के समान स्वच्छ
वपुः—	शरीर
तुंगोदयाद्रि—	ऊँचे उदयाचल के
शिरसि—	शिखर पर
वियद्-विलसद्—	आकाश मे शोभित
अंशुलतावितानम्—	किरण रूप लता समूह वाले
सहस्त्ररश्मेः—	सूर्य के
बिम्बम्—	बिम्ब के
इव—	समान
विभ्राजते—	अति शोभायमान हो रहा है।

भावार्थ : हे भगवन्! जिस प्रकार ऊँचे उदयाचल पर्वत के शिखर पर आकाश मे प्रकाशमान किरण रूप लताओ के विस्तार से युक्त सूर्य का बिम्ब शोभा को प्राप्त होता है, उसी प्रकार जड़े हुए बहुमूल्य रत्नो की किरणप्रभा से चित्र-विचित्रि ऊँचे सिहासन पर आपका सुवर्ण के समान देदीप्यमान स्वच्छ शरीर शोभा को प्राप्त हो रहा है। (यह 'सिहासन' महाप्रातिहार्य का वर्णन है।)



कुन्दावदात-चलं-चामर-चारु-शोभम्,
विभ्राजते तव वपु- कलधौत-कान्तम्।
उद्यच्छशाङ्क शुचि-निर्झर-वारि-धार-
मुच्चैस्तट सुरगिरेरिव शातकौम्भम्॥३०॥

हिन्दी पद्य : तेरा सुवर्ण-सम देह विभो सुहाता,
है, श्वेत कुन्दसम चामर के ढुरे से।

पयोधर—	मेघों के
पार्श्ववर्ति—	समीपवर्ती
रवेः बिम्बम्—	सूर्य के बिम्व के
इव—	समान
आभाति—	शोभायमान हो रहा है।

भावार्थ : हे भगवन्! समवसरण मे अशोकावृक्ष के नीचे विराजमान, चमकती और ऊपर की ओर फैलती हुई किरणों वाला आपका निर्मल स्वरूप ऐसा भव्य प्रतीत होता है जैसा कि स्पष्ट रूप से चमकती हुई किरणों वाला एवं अन्धकार के समूह को नष्ट करने वाला सूर्य का बिम्व सघन मेघो के समीप शोभित होता है। तात्पर्य यह है कि भगवान् आदिनाथ का गौर वर्ण सूर्यबिम्व के सदृश है और अशोकवृक्ष मेघ के सदृश नील वर्ण। अशोकवृक्ष के सान्निध्य से भगवान् का स्वतः तेजस्वी रूप और अधिक तेजस्वी दिखाई देने लगता है। (यह अशोकवृक्ष महाप्रातिहार्य का वर्णन है।)



सिंहासने मणि-मयूख-शिखा-विचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम्।
विम्वं वियद्विलसदंशु-लता-वितानं,
तुङ्गोदयाद्रि-शिरसीव सहस्ररश्मेः॥२९॥

हिन्दी पद्य : सिंहासन स्फटिक रत्न जड़ा, उसी में,
भाता विभो! कनककान्त शरीर तेरा।
ज्यों रत्न-पूर्ण उदयाचल शीश पै जा,
फैला स्वकीय किरणें रवि-विम्व सोहै॥२९॥

अन्वयार्थ : मणि-मयूख-	मणियों की किरण
शिखा-विचित्रे-	पंक्ति से शोभित

सिंहासने—	सिंहासन पर
तव—	आपका
कनकावदातम्—	सुवर्ण के समान स्वच्छ
वपुः—	शरीर
तुगोदयाद्रि—	ऊँचे उदयाचल के
शिरसि—	शिखर पर
वियद्-विलसद्—	आकाश में शोभित
अंशुलतावितानम्—	किरण रूप लता समूह वाले
सहस्त्ररश्मेः—	सूर्य के
बिम्बम्—	बिम्ब के
इव—	समान
विभ्राजते—	अति शोभायमान हो रहा है।

भावार्थ : हे भगवन्! जिस प्रकार ऊँचे उदयाचल पर्वत के शिखर पर आकाश मे प्रकाशमान किरण रूप लताओ के विस्तार से युक्त सूर्य का बिम्ब शोभा को प्राप्त होता है, उसी प्रकार जडे हुए बहुमूल्य रत्नो की किरणप्रभा से चित्र-विचित्रि ऊँचे सिहासन पर आपका सुवर्ण के समान देदीप्यमान स्वच्छ शरीर शोभा को प्राप्त हो रहा है। (यह 'सिहासन' महाप्रातिहार्य का वर्णन है।)



कुन्दावदात-चलं-चामर-चारु-शोभम्,
विभ्राजते तव वपु- कलधौत-कान्तम्।
उद्यच्छशाङ्क शुचि-निर्झर-वारि-धार-
मुच्चैस्तट सुरगिरेरिव शातकौम्भम्॥३०॥

हिन्दी पद्य : तेरा सुवर्ण-सम देह विभो सुहाता,
है, श्वेत कुन्दसम चामर के ढुरे से।

सोहैं सुमेरुगिरि कांचन कान्तिधारी,
ज्यों चन्द्र कान्तिधर निर्झर के बहे से ॥३०॥

अन्वयार्थ : कुन्दावदात —	कुन्द पुष्प के समान निर्मल श्वेत
चल-चामर—	हिलते हुए चामरों की
चारुशोभम्—	सुन्दर शोभा से युक्त
कलधौत—	सुवर्ण के समान
कान्तम्—	कान्तिवाला
तव—	आपका
वपुः—	शरीर
उद्यच्छशाङ्क—	उदय होते हुए चन्द्रमा के समान
शुचि-निर्झर—	निर्मल झरनो की
वारिधारम्—	जलधारा से युक्त
सुरगिरेः—	सुमेरु पर्वत के
शातकौम्भम्—	सुवर्णमयी
उच्चैस्तटम्—	ऊँचे तट के
इव—	समान
विभ्राजते—	सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ : जैसे उदित होते हुए चन्द्रमा के समान झरनों की निर्मल जलधाराओ से सुमेरु का सुवर्णमयी ऊँचा शिखर शोभा पाता है, उसी प्रकार देवताओं के द्वारा दोनों ओर ढुरने वाले कुन्द पुष्प के समान श्वेत चँवरो की सुन्दर शोभा से युक्त आपका सुवर्ण जैसी कान्तिवाला दिव्य देह भी अत्यन्त सुन्दर शोभा को प्राप्त हो रहा है। (यह 'चामर' महाप्रातिहार्य का वर्णन है।)



छत्रत्रयं तव विभाति शशांक–कान्त–
मुच्चैः स्थितं–स्थगित, भानुकर–प्रतापम्।
मुक्ताफल–प्रकर–जाल–विवृद्धशोभम्।
प्रख्यापयत्त्रिजगतः परमेश्वरत्वम्॥३१॥

हिन्दी पद्य : मोती मनोहर लगे जिसमें सुहाते,
नीके हिमांशु–सम सूरज–ताप हारी।
है तीन छत्र शिर पै अतिरम्य तेरे,
जो तीन लोक–परमेश्वरता बताते॥३१॥

अन्वयार्थ : **उच्चैः स्थितम् —** ऊपर स्थित
शशांककान्तम्— चन्द्र के समान कान्तिवाले,
स्थगित— रोका है
भानुकर— सूर्य की किरणों के
प्रतापम्— प्रचंड ताप को जिन्होंने, ऐसे, तथा
मुक्ताफल— मोतियो के
प्रकरजाल— समूह वाली झालर से
विवृद्धशोभम्— बढ़ रही है शोभा जिनकी, ऐसे
छत्रत्रयम् — तीन छत्र
तव— आपके
त्रिजगतः— तीन जगत् की
परमेश्वरत्वम्— परमेश्वरता को
प्रख्यापयत्— प्रकट करते हुए
विभाति— शोभायमान हो रहे हैं।

भावार्थ : आपके मस्तक के ऊपर जो तीन छत्र लगे हुए हैं वे चन्द्रमा के समान श्वेतवर्ण वाले है, उनमे मोतियो की झालरे लगी हुई है और सूर्य

के आतप को रोक रहे हैं, वे ऐसे प्रतीत होते हैं. मानो 'आप तीन जगत् के स्वामी है' यही संसार को बतला रहे हो। (यह 'छत्रत्रय' महाप्रातिहार्य का वर्णन है।)



गम्भीर-तार-रव-पूरित-दिग्विभाग-
स्त्रैलोक्य-लोक-शुभ-संगम-भूति-दक्षः।
सद्धर्म राज जय घोपण घोषकः सन्
खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥३२॥

हिन्दी पद्य : गम्भीर नाद भरता दश ही दिशा मे,
सत्सग की त्रिजग को महिमा बताता।
धर्मेश की कर रहा जय-घोपण है,
आकाश बीच बजता यश का नगारा ॥३२॥

अन्वयार्थ : गम्भीर—

तार-रव-पूरित—	उच्च सुन्दर शव्द से पूर दिया है
दिग्विभागः—	दिशाओं के विभाग को जिसने, ऐसा
त्रैलोक्य—	तीनों लोकों के
लोक—	लोगों को
शुभ—	शुभ
संगम—	समागम की
भूति—	विभृति देने में
दक्षः—	कुशल
सद्धर्मराज—	सद्धर्मराज तीर्थकर देव की
जय घोपण—	जय घोपणा को
घोपकः—	घोपित करने वाला

दुन्दुभिः—	दुन्दुभि वाद्य (नगाड़ा)
ते—	आपके
यशसः—	यश को
प्रवादी—	सब ओर फैलाता
सन्—	हुआ
खे—	आकाश में
ध्वनति—	शब्द कर रहा है।

भावार्थ : समवसरण में जब भगवान् विराजते हैं, तब आकाश में देव दुन्दुभि बजाते हैं। उसके सुन्दर गम्भीर उच्च स्वर से दिशाएं गूंज जाती है। उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह तीनों लोकों के प्राणियों को कल्याण प्राप्ति के लिए आह्वान कर रहा है और भगवान् ही 'सच्चे धर्म का निरुपण करने वाले हैं', इस प्रकार से भगवान् के यश को संसार में विस्तारता हुआ बजता रहता है। (यह 'देवदुन्दुभि' महाप्रातिहार्य का वर्णन है।)



मन्दार–सुन्दर–नमेरु–सुपारिजात–
सन्तानकादि–कुसुमोत्कर–वृष्टि–रुद्धा।
गन्धोद–बिन्दु–शुभ मन्द मरुत्प्रपाता,
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा॥३३॥

हिन्दी पद्य : गन्धोद–बिन्दु–युत् मारुत की गिराई,
मन्दारकादि तरु की कुसुमावली की।
होती मनोरम महा सुरलोक से है,
वर्षा, मनो तव लसे वचनावली है॥३३॥

अन्वयार्थ :

गन्धोदबिन्दु—	सुगन्धित जल बिन्दुओं से युक्त
शुभ मन्द—	शुभ मन्द मन्द
मरुत्प्रपाता—	वायु के साथ गिरती हुई

उद्धा—	ऊर्ध्वमुखी
दिव्या—	दिव्य
मन्दार—	मन्दार जाति के
सुन्दर—	सुन्दर जाति के
नमेरु—	नमेरु जाति के
सुपारिजात—	पारिजात जाति के
सन्तानकादि—	और सन्तानक आदि जाति के
कुसुमोत्करवृष्टि—	कल्पवृक्षो के पुष्पो की वर्षा
ते—	आपके
वचसां—	वचनो की
ततिःवा—	पंक्ति के समान
दिवः—	आकाश से
पतति—	हो रही हैं

भावार्थ : समवसरण मे देवगण मन्दार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात और सन्तानक आदि कल्पवृक्षो के विविध वर्ण वाले पुष्पों की वर्षा सुगन्धित जलबिन्दुओ के और मन्द-मन्द वायु के साथ करते है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानो आपके दिव्य वचनो की पंक्ति ही बरस रही हो। (यह 'पुष्पवृष्टि' महाप्रतिहार्य का वर्णन है।)



शुम्भत्प्रभा-वलय भूरि-विभा विभोस्ते,
लोक-त्रये द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती।
प्रोद्यद्दिवाकर-निरन्तर-भूरि-संख्या-
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्याम् ॥३४॥

हिन्दी पद्य : त्रैलोक्य की सब प्रभामय वस्तु जीती,
भामण्डल प्रबल है तव नाथ! ऐसा।

नाना प्रचण्ड रवि–तुल्य सुदीप्ति धारी,
है जीतता शशि–सुशोभित रात को भी ॥३४॥

अन्वयार्थ :	**लोकत्रय—**	तीनो लोको मे
	द्युतिमतां—	सभी कान्तिवाले पदार्थो की
	द्युतिम्—	कान्ति की
	आक्षिपन्ती—	तिरस्कार करती हुई
	ते विभोः—	आपके
	शुम्भत्—	प्रकाशमान
	प्रभावलय—	भामण्डल की
	भूरिविभा—	अतिशय प्रभा
	प्रोद्यद्दिवाकर—	उदित होते हुए सूर्यो की
	निरन्तर—	निरन्तर
	भूरि संख्या—	भारी संख्या वाली
	दीप्त्या अपि—	दीप्ति (कान्ति) से भी
	सोमसोम्याम्—	चन्द्र से शोभायमान
	निशाम् अपि—	रात्रि को भी
	जयति—	जीत रही है।

भावार्थ : भगवान् की भामण्डल की ज्योतिर्मयी प्रभा तीन जगत के सभी ज्योति वाले पदार्थो की ज्योति को लज्जित कर देती हे और एक साथ उदित हुए सहस्त्रो सूर्यो के प्रकाश से अधिक प्रकाश वाली होती हुई भी वह भामण्डल की प्रभा पूर्णमासी की शीतल चन्द्रिका को भी पराजित कर देती है। साराश यह हैं कि भामण्डल की प्रभा सहस्त्रो सूर्यो की प्रभा से अधिक होने पर भी किसी को सन्ताप नही पहुंचाती है, प्रत्युत चन्द्रमा की चॉदनी से भी अधिक शान्ति प्रदान करती है। (यह 'भामण्डल' महाप्रातिहार्य का वर्णन है।)

स्वर्गापवर्ग-गम-मार्ग-विमार्गणेष्टः,
सद्धर्म-तत्त्व-कथनैक-पटु-स्त्रिलोक्याः।
दिव्य-ध्वनिर्भवति ते विशदार्थ-सर्व-
भाषा-स्वभाव-परिणामगुणैः प्रयोज्यः॥३५॥

हिन्दी पद्य : है स्वर्ग-मोक्ष-पथ-दर्शन की सुनेता,
सद्धर्म के कथन में पटु है जगों के।
दिव्यध्वनि प्रकट अर्थमयी प्रभो है,
तेरी लहे सकल मानव बोध जिससे॥३५॥

अन्वयार्थ :

स्वर्ग —	स्वर्ग की और
अपवर्ग—	मोक्ष के
गम-मार्ग—	जाने के मार्ग को
विमार्गणेष्टः—	अन्वेषण करने में अभीष्ट,
त्रिलोक्याः—	तीनों लोकों को (त्रिलोकवर्ती प्राणियों को)
सद्धर्मतत्त्व—	सत्य धर्म का तत्त्व
कथनैकपटु—	कथन करने में अत्यन्त समर्थ,
विशदार्थ—	विशद अर्थ और
सर्वभाषा—	सर्व भाषाओं के
स्वभावपरिणाम—	स्वभाव में परिणत होने के
गुणैः—	गुणों से
प्रयोज्यः—	युक्त
ते दिव्यध्वनिः—	आपकी दिव्यध्वनि
भवति—	होती है।

भावार्थ : हे भगवन्! आपकी दिव्य ध्वनि स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग बताने वाली है, तीन लोक के प्राणियों को सत्य धर्म का रहस्य समझाने

में कुशल है, विशद (स्पष्ट) अर्थ वाली है और संसार की सभी भाषाओं में परिणत होने के अति विलक्षण गुण से युक्त है। (यह दिव्यध्वनि महाप्रातिहार्य का वर्णन है।)



उन्निद्र-हेम-नव-पंकज-पुञ्ज-कान्ती,
पर्युल्लसन्नख-मयूख-शिखा-भिरामौ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र! धत्तः,
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥३६॥

हिन्दी पद्य : फूले हुए कनक के नव पद्म के से,
शोभायमान नखकी किरणप्रभा से।
तूने जहाँ पग धरे अपने विभो हैं,
नीके वहाँ विबुध पंकज कल्पते है ॥३६॥

अन्वयार्थ :

जिनेन्द्र—	हे जिनेन्द्र!
उन्निद्र —	खिले हुए
हेम —	स्वर्ण के
नव —	नवीन
पंकज —	कमलों के
पुञ्ज —	समूह के समान
कान्ती —	कान्ति वाले
पर्युल्लसन् —	सर्व और फैलने वाली
नखमयूख —	नखों की किरणों की
शिखाभिरामौ —	प्रभा से सुन्दर
तव —	आपके
पादौ —	चरण
यत्र —	जहां पर

पदानि —	पद
धत्तः —	रखते हैं
तत्र —	वहां पर
विबुधा —	देवगण
पद्मानि —	कमलों की
परिकल्पयन्ति —	रचना करते हैं।

भावार्थ : हे जिनेन्द्र! आपके चरण-कमल विकसित नवीन स्वर्णकमल के सदृश है, उनके नखों से सर्व ओर किरणे फैल रही है। विहार करते समय आप जहाँ-जहाँ भी पग रखते हैं, वहाँ पर भक्त देवगण पहले से ही सुवर्णमयी कमलों की रचना कर देते हैं।



इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र !,
धर्मोपदेशन-विधौ न तथा परस्य।
यादृक्प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा-
तादृक् कुतो ग्रहगणस्य विकासिनोऽपि॥ ३७॥

हिन्दी पद्य : तेरी विभूति इस भाँति विभो हुई जो,
सो धर्म के कथन में न हुई किसी की।
होते प्रकाशित, परन्तु तमिस्त्र - हर्ता,
होता न तेज रवि-तुल्य कहीं ग्रहों का॥ ३७॥

अन्वयार्थ :

जिनेन्द्र—	हे जिनेन्द्र !
तव—	आपके
धर्मोपदेशनविधौ—	धर्मोपदेश देने के समय
इत्थं—	इस प्रकार
यथा—	जैसी आठ प्रातिहार्य रूप
विभूतिः—	विभूति

अभूत्—	हुई
तथा—	वैसी
परस्य—	अन्य किसी देव की
न—	नही हुई।
प्रहतान्धकारा—	अन्धकार को नाश करने वाली
यादृक्—	जैसी
प्रभा—	प्रभा
दिनकृतः—	सूर्य की होती है
तादृक्—	वैंसी
विकासिनः—	चमकते हुए
अपि—	भी
ग्रहगणस्य—	तारा गणो की
कुतः?—	कैसे हो सकती है?

भावार्थ— हे भगवन् ! धर्मोपदेश के समय समवसरण मे आठ महाप्रातिहार्य रूप जैसी दिव्य विभूति आपकी हुई, वैसी दूसरे देवो को कभी प्राप्त नही हुई। यह ठीक ही है—अन्धकार का नाश करने वाली जैसी प्रभा सूर्य की होती है, वैसी चमकते हुए तारा, नक्षत्रादि में कहाॅ सम्भव है? अर्थात् कभी सम्भव नही है।



श्च्योतन्मदाविल-विलोल-कपोल-मूल,
मत्त-भ्रमद्-भ्रमर-नाद-विवृद्ध-कोपम्।
ऐरावताभ - मिभमुद्धतमापतन्तं,
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम्॥ ३८॥

हिन्दी पद्य : दोनो कपोल झरते मद से सने है,
गुंजार खूब करती मधुपावली है।

ऐसा प्रमत्त गज होकर क्रुद्ध आवे,
पावें न किन्तु भय आश्रित लोक तेरे ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ :	श्च्योतन्—	झरते हुए
	मदाविल—	मद से मलिन
	विलोल—	चंचल
	कपोलमूल—	कपोल मूल (गण्डस्थल) पर
	मत्त—	उन्मत्त
	भ्रमद्—	परिभ्रमण करते हुए
	भ्रमर—	भोंरो के
	नाद—	शब्द से
	विवृद्धकोपम्—	जिसका क्रोध बढ रहा है, ऐसे
	ऐरावताभम्—	ऐरावत गज के समान विशाल
	आपतन्तम्—	सामने आते हुए
	उद्धतम्—	उद्धत
	इभम्—	हाथी को
	दृष्ट्वा—	देखकर भी
	भवदाश्रितानाम्—	आपके आश्रित जनों को
	भयम्—	भय
	नो—	नहीं
	भवति—	होता है।

भावार्थ— युवावस्था में बहने वाले मद से मलिन एवं चंचल गण्डस्थल पर मँडराने वाले मदोन्मत्त भौंरों की गुंजार से अत्यन्त क्रुद्ध हुआ ऐरावत हाथी के समान विशाल मद-मत्त हाथी भी यदि आक्रमण करे तो भी आपके आश्रय में रहने वाले भक्त जनों को कुछ भी भय नहीं होता है, अर्थात् वे निर्भय बने रहते हैं। आपका भक्त गज-भय से विमुक्त रहता है।

भिन्नेभ–कुम्भ–गलदुज्ज्वल–शोणिताक्त,
मुक्ता–फल–प्रकर–भूषित–भूमि–भागः।
बद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि,
नाक्रामति क्रम–युगाचल–संश्रितं ते॥ ३९॥

हिन्दी पद्य : नाना करीन्द्रदल–कुम्भ विदार के की,
पृथ्वी सुरम्य जिसने गजमोतियों से।
ऐसा मृगेन्द्र तक चोट करे न उसपै,
तेरा पदाद्रि जिसका शुभ आसरा है॥ ३९॥

अन्वयार्थ :

भिन्नेभ—	विदारण किये गये हाथी के
कुम्भगलद्—	मस्तक से झरते हुए
उज्ज्वल—	उज्ज्वल वर्ण वाले
शोणिताक्त—	रक्त से सने हुए
मुक्ताफल—	मोतियों के
प्रकर—	समूह से
भूषित—	भूषित किया है
भूमिभागः—	भूमि भाग को जिसने ऐसा
हरिणाधिपः अपि—	मृगराज (सिंह) भी
क्रमगतं—	पंजों के मध्य में पड़े हुए
ते—	(किन्तु) आपके
क्रमयुगाचल—	चरण–युगल रूप पर्वत के
संश्रितम्—	आश्रित पुरुष पर
बद्धक्रमः—	बंधे हुए पैरों वाला जैसा होकर
न आक्रामति—	आक्रमण नहीं करता है।

भावार्थ— जिसने बड़े–बड़े भीमकाय हाथियों के कुम्भस्थलों को विदारण कर रक्त से सने हुए उज्ज्वल मोतियों के ढेर से भूभाग को भूषित किया है, ऐसा भयंकर सिंह भी आपके चरण–युगल रूपी पर्वत का आश्रय

लेने वाले भक्त के सामने ऐसा बन जाता है मानों उसके पैर बाँध दिये गये हों। वह उस पर आक्रमण नहीं करता है। अर्थात् आपका भक्त सिंह-भय से विमुक्त रहता है।



कल्पान्त-काल-पवनोद्धत-वह्नि-कल्पं,
दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिंगम्।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं,
त्वन्नाम-कीर्त्तनजलं शमयत्यशेषम्॥ ४०॥

हिन्दी पद्य : झालें उठें, चहुँ उड़े जलते अंगारे,
दावाग्नि जो प्रलय वह्नि [illegible]ान भासे।
संसार-भस्म करने हित पास आवे,
त्वत्कीर्तिगान शुभ वारि उसे शमावे॥ ४०॥

अन्वयार्थ :	**कल्पान्तकाल—**	प्रलयकाल के
	पवनोद्धत—	पवन से उद्धत (उत्तेजित)
	वह्निकल्पम्—	अग्नि के सदृश
	ज्वलितम्—	जलती हुई
	उज्ज्वलम्—	धधकती हुई
	उत्स्फुलिंगम्—	ऊपर को फुलिंगे उड़ाने वाली
	इव—	मानो
	विश्वम्—	समस्त संसार को
	जिघत्सुं—	भस्म करने की इच्छुक हो, ऐसी
	सम्मुखम्—	सामने
	आपतन्तम्—	आती हुई
	दावानलम्—	दावाग्नि को
	त्वन्नामकीर्तन जलम्—	आपका नामोच्चारण रूप जल

अशेषम्—	पूर्ण रूप से
शमयति—	शान्त कर देता है।

भावार्थ— प्रलय काल की महा वायु के समान प्रचण्ड वायु से प्रज्वलित, धधकता और आकाश मे तिलंगे फैकता हुआ, समस्त विश्व को भस्म करने के लिए उद्यत ऐसा प्रचण्ड दावानल भी आपके नाम रूपी जल के प्रभाव से क्षण भर मे शान्त हो जाता है। अर्थात् आपका भक्त अग्नि-भय से विमुक्त रहता।



रक्तेक्षण समद-कोकिल-कण्ठ-नीलं,
क्रोधोद्धतं फणिन-मुत्फण-मापतन्तम्।
आक्रामति क्रम-युगेन निरस्तशंक—
स्त्वन्नाम-नाग-दमनी हृदि यस्य पुंसः॥ ४१ ॥

हिन्दी पद्य : रक्ताक्ष, क्रुद्ध पिक-कण्ठ-समान काला,
फुंकार सर्प फण को कर उच्च धावे।
निःशङ्क हो जन उसे पग से उलांघे,
त्वन्नाम-नागदमनी जिसके हिये हो॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ :

यस्य—	जिस
पुंस—	पुरुष के
हृदि—	हृदय मे
त्वन्नाम्—	आपके नाम रूपी
नागदमनी—	नागदमनी जडी बूटी है
(सः)—	(वह)
निरस्तशङ्कः—	निःशक होकर
रक्तेक्षणम्—	लाल नेत्रों वाले
समदकोकिल—	मद युक्त कोयल के

कण्ठनीलम्—	कण्ठ के समान काले
क्रोधोद्धतम्—	क्रोध से फुंकारते हुए
आपतन्तम्—	सामने आते हुए
उत्फणं—	ऊपर को फन उठाये हुए
फणिनम्—	साँप को
क्रमयुगेन—	पाद-युगल से
आक्रामति—	लाँघ जाता है।

भावार्थ— जिसके हृदय में आपका नाम रूप नागदमनी जडी है, वह पुरुष लाल नेत्र वाले एवं मतवाले कोकिल के कण्ठ के समान काले, क्रोध से फूंकार करते और फन को ऊँचा उठाकर सामने आते हुए भी भयंकर साँप को निःशंक होकर लाँघता हुआ चला जाता है। अर्थात् आपका भक्त सर्प-भय से मुक्त रहता है।



वल्गत्तरंग-गज-गर्जित-भीम-नाद-
माजौ बलं बलवतामपि-भूपतीनाम्।
उद्यद्दिवाकर-मयूख-शिखा-पविद्धम्,
त्वत्कीर्त्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति॥ ४२॥

हिन्दी पद्य : घोड़े जहाँ हिनहिने, गरजे गजाली,
ऐसे महा प्रबल शत्रु धराधिपों के।
जाते सभी बिखर हैं तव नाम गाये,
ज्यों अन्धकार, उगते रवि के करों से॥ ४२॥

अन्वयार्थ :

आजौ—	युद्ध के मैदान में
त्वत्कीर्तनात्—	आप के नाम का कीर्तन करने से
बलवताम्—	बलवन्त
भूपतीनाम्—	(शत्रु) राजाओं के

वल्गत्—	उछलते हुए
तुरंग—	घोड़ों और
गज-गर्जित—	हाथियों की गर्जना से
भीमनादम्—	भयानक शब्दवाली
बलम्—	सेना
उद्यद्दिवाकर—	उदित होते हुए सूर्य की
मयूख-शिखा—	किरणों की शिखा से
अपविद्धम्—	नष्ट हुए
तम इव—	अन्धकार के समान
आशु—	शीघ्र ही
भिदाम्—	छिन्न-भिन्न
उपैति—	हो जाती है।

भावार्थ— जिस सेना में घोड़े हिनहिना रहे हों और हाथी गरज रहे हों, भयंकर कोलाहल हो रहा हो, ऐसी शत्रु-राजाओं की सेना भी आपके नाम का उच्चारण करने से ऐसी छिन्न-भिन्न हो जाती है, जैसे सूर्य के उदित होते ही उसकी किरणो से रात्रि का अन्धकार छिन्न-भिन्न हो जाता है। अर्थात् आपके भक्त को शत्रु-सेना का भय नहीं रहता।



कुन्ताग्र-भिन्न-गज-शोणित-वारिवाह-
वेगावतार-तरणातुर-योध-भीमे।
युद्धे जयं विजित-दुर्जय-जेय-पक्षा-
स्त्वत्पाद-पंकज-वनाश्रयिणो लभन्ते॥ ४३॥

हिन्दी पद्य : बर्छे लगे, बह रहे गज रक्त के हैं,
तालाब से विकल हैं तरणार्थ योद्धा।

जीते न जायें रिपु संकट बीच ऐसे,
तेरे प्रभो चरण-सेवक जीतते हैं ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ :

कुन्ताग्र—	भालों के अग्रभाग से
भिन्न—	छिन्न-भिन्न हुए
गज—	हाथियों के
शोणित—	रक्तरूपी
वारिवाह—	जल के प्रवाह में
वेगावतार—	वेग से उतरने और
तरणातुर—	तैरने के लिए आतुर
योधभीमे—	योद्धाओं के कारण भयानक
युद्धे—	युद्ध में
त्वत्पादपङ्कज—	आपके चरण-कमल रूपी
वनाश्रयिणः—	वन का आश्रय लेने वाले पुरुष
विजित दुर्जयजेयपक्षाः—	दुर्जय शत्रुपक्ष को पराजित करके
जयम्—	विजय
लभन्ते—	प्राप्त करते है।

भावार्थ— जिस युद्ध में भालों की नोकों से छिन्न-भिन्न हुए हाथियो के शरीरों से रक्त की धारा वह रही है और जिसे पार करने में बड़े-वडे शूर-वीर योद्धागण भी असमर्थ हो रहे हैं, उस युद्ध मे भी आपके चरण-कमल-वन का आश्रय लेने वाले पुरुष शत्रुपक्ष को जीत कर विजय पाते हैं। सारांश— आपका भक्त भयंकर युद्ध मे भी विजयलाभ करता है।



अम्भोनिधौ क्षुभित-भीपण-नक्र-चक्र-
पाठीन-पीठ-भयदोल्वण-वाडवाग्नौ।

रंगत्तरंग-शिखर-स्थित-यान-पात्रा-
स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति ॥ ४४ ॥

हिन्दी पद्य : है काल नृत्य करते मकरादि जन्तु,
त्यो वाडवाग्नि अति भीषण सिन्धु में है।
तूफान मे पड़ गये जिनके जहाज,
वे भी प्रभो ! स्मरण से तव पार होते ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ :

क्षुभित—	क्षोभ युक्त
भीषण—	भयंकर
नक्र-चक्र—	मगर-समूह और
पाठीनपीठ—	मच्छों की पीठ की टक्कर से
भयदोल्वण—	भयोत्पादक एवं भयानक
वाडवाग्नौ—	वडवानल से युक्त
अम्भोनिधौ—	समुद्र मे
रंगत्तरंग—	लहराती हुई लहरों के
शिखरस्थित—	शिखर पर डगमगाते हुए
यानपात्राः—	जहाज वाले (भक्त)
भवतः—	आपके
स्मरणात्—	स्मरण से
त्रासं—	घबराहट को
विहाय—	छोड़कर
व्रजन्ति—	(किनारे) चले जाते है।

भावार्थ— जिसमे भयानक मगर-मच्छ उछल रहे है और वडवानल (समुद्र की आग) से जिसका पानी उबल रहा है, ऐसे भयानक ऊॅची तरगो वाले समुद्र मे जिनका जहाज फॅस गया हो, ऐसे भक्त जन

आपके स्मरण मात्र से बिना किसी प्रकार के त्रास के आगे बढ़ते हुए तट पर पहुँच जाते हैं।



उद्भूत-भीषण-जलोदर-भार भुग्नाः,
शोच्यां दशामुपगताश्च्युत-जीविताशाः।
त्वत्पाद-पंकज-रजोऽमृत-दिग्ध-देहाः,
मर्त्या भवन्ति मकरध्वज-तुल्य-रूपाः॥ ४५॥

हिन्दी पद्य : अत्यन्त पीड़ित जलोदर-भार से है,
है दुर्दशा, तज चुके निज जीविताशा।
वे भी लगा तव पदाब्ज रज:सुधा को,
होते प्रभो ! मदनतुल्य सुरूप देही॥ ४५॥

अन्वयार्थ :

उद्भूत—	उत्पन्न हुए
भीषण—	भयानक
जलोदर—	जलोदर के
भारभुग्नाः—	भार से पीड़ित
शोच्यां—	शोचनीय
दशाम्—	दशा को
उपगताः—	प्राप्त, तथा
च्युतजीविताशाः—	छोड़ दी है जीने की आशा जिन्होंने
मर्त्या—	(ऐसे) मनुष्य
त्वत्पादपङ्कज—	आपके चरण-कमलों की
रजोऽमृत—	रजरूपी अमृत से
दिग्धदेहाः—	देह को लिप्त करके
मकरध्वज—	कामदेव के
तुल्यरूपा—	समान रूप वाले
भवन्ति—	हो जाते हैं।

भावार्थ— जो भयंकर जलोदर रोग के भार से पीड़ित हैं। लगातार औषध–सेवन करते रहने पर भी उत्तरोत्तर रोग के बढ़ने से जिन्होने अपने जीने की आशा छोड दी है ऐसे अत्यन्त दयनीय अवस्था को प्राप्त पुरुष भी यदि आपके चरणो की धूलि को अपने शरीर पर लगाते हैं तो वे नीरोग हो कामदेव के समान सुन्दर शरीर वाले हो जाते हैं। अर्थात् आपके चरण–रज से असाध्य रोगी भी नीरोग हो जाते है।



आपाद–कण्ठ–मुरु–श्रृङ्खल–वेष्टिताङ्गा,
गाढं बृहन्निगड–कोटि–निघृष्ट–जङ्घा।
त्वन्नाम–मन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वय विगत–बन्ध–भया भवन्ति ॥ ४६ ॥

हिन्दी पद्य : सारा शरीर जकडा दृढ़ साकलों से,
बेड़ी पड़े छिल गई जिनकी सुजॉघें।
त्वन्नाम मन्त्र जपते–जपते उन्हों के,
जल्दी स्वयं झड पड़ें सब बन्ध बेडी ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थ :

आपादकण्ठं—	पैरो से लेकर कण्ठ तक
उरुश्रृङ्खल—	बड़ी–बडी साकलों से
वेष्टितांग—	वेष्टित शरीर वाले
गाढम्—	अत्यन्त कस कर बांधी गई
बृहन्निगड–कोटि—	बड़ी–बडी बेडियो के किनारों से
निघृष्टजङ्घा—	जिनकी जंघाएँ घिस गई हैं
मनुजाः—	(ऐसे) मनुष्य
त्वन्नाममन्त्रम्—	आपके नामरूपी मन्त्र को
अनिशं—	निरन्तर
स्मरन्तः—	स्मरण करते हुए

सद्यः—	शीघ्र ही
स्वयं—	स्वयं अपने (आप)
विगतबन्धभया—	बन्धन-भय से रहित
भवन्ति—	हो जाते हैं।

भावार्थ— जो पैरों से लेकर गले तक बड़ी-वड़ी मोटी सांकलों से बन्धे हुए हैं, जिनकी जॉघें बेड़ियों की तीक्ष्ण कोरों से छिल गई हैं, इस प्रकार से जेलखाने में बद्ध आजन्म कैद की सजा भोगने वाले भी पुरुष आपके नाम का निरन्तर स्मरण करने पर अपने आप वन्धनों से मुक्त हो जाते हैं। यह आपके नाम का प्रभाव है।



मत्त-द्विपेन्द्र-मृगराज-दवानलाहि-
संग्राम-वारिधि-महोदर-वन्धनोत्थम्।
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव,
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते॥ ४७॥

हिन्दी पद्य : जो बुद्धिमान् इस सुस्तव को पढ़े हैं,
होके विभत उनसे भय भाग जाता।
दावाग्नि सिन्धु अहि का रण रोग का त्यों,
पंचास्य मत्तगज का, सब वन्धनों का॥ ४७॥

अन्वयार्थ :

यः—	जो
मतिमान्—	बुद्धिमान्
तावकम्—	आपके
इमं—	इस
स्तवं—	स्तोत्र को
अधीते—	पढ़ता है
तस्य—	उसका

मत्तद्विपेन्द्र—	मत्त गजराज
मृगराज—	सिंह
दवानल—	दावाग्नि
अहि—	सर्प
संग्राम—	युद्ध
वारिधि—	समुद्र
महोदर—	जलोदर और
बन्धनोत्थम्—	बेड़ी-बन्धन से उत्पन्न हुआ
भयम्—	भय
भिया इव—	डर कर ही मानो
आशु—	शीघ्र
नाशम्—	नाश को
उपयाति—	प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ— जो उत्तम बुद्धि वाला पुरुष आपके इस स्तोत्र को भक्तिपूर्वक पढता है, उसका मदोन्मत्त हाथी, मृगराज, दावानल, सर्प, युद्ध, समुद्र, जलोदर और कारगार इन आठ कारणो से उत्पन्न होने वाला भय स्वय ही डर कर दूर हो जाता है। अर्थात् प्रस्तुत स्तोत्र के पाठ करने से उक्त सभी भयो से मनुष्य निर्भय रहता है।



स्तोत्र-स्त्रज तव जिनेन्द्र ! गुणैर्निबद्धा,
भक्त्या मया रुचिर-वर्ण-विचित्र-पुष्पाम्।
धत्ते जनो य इह कण्ठगता-मजस्त्रं,
तं मानतुङ्ग-मवशा समुपैति लक्ष्मीः॥ ४८॥

हिन्दी पद्य : तेरे मनोज्ञ गुण से स्तवमालिका ये,
गूँथी प्रभो ! रुचिर वर्ण सुपुष्प वाली।

मैंने सभक्ति, जन कण्ठ धरे इसे जो,
सो मानतुंग सम प्राप्त करे सुलक्ष्मी ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ :	जिनेन्द्र—	हे जिनेश्वर देव ।
	इह—	इस लोक में
	भक्त्या—	भक्तिपूर्वक
	मया—	मेरे द्वारा
	तव—	आप के
	गुणैः—	गुणों से
	निबद्धाम्—	रची गई
	रुचिर—	सुन्दर
	वर्ण—	वर्ण रूपी
	विचित्र—	विविध प्रकार के
	पुष्पाम्—	पुष्पों द्वारा रचित
	स्तोत्रस्त्रजम्—	स्तुतिरूपी माला को
	यः जनः—	जो मनुष्य
	अजस्त्रं—	निरन्तर
	कण्ठगताम्—	कण्ठ में
	धत्ते—	धारण करता है
	तम्—	उस
	मानतुंगम्—	स्वाभिमानी अथवा मानतुंग पुरुष को
	अवशा—	विवश होकर
	लक्ष्मीः—	सर्व प्रकार की लौकिक और पार लौकिक्क लक्ष्मी
	समुपैति—	प्राप्त होती है।

भावार्थ— हे जिनेन्द्र ! मैंने भक्ति भाव से आपके गुणों की यह स्तोत्रमाला रची है जो सुन्दर वर्णरूप पुष्पों से युक्त है। जो भक्तजन इसको कण्ठ मे धारण कर निरन्तर इसका पाठ करते है, वे सम्माननीय उच्च पदों को प्राप्त होते हैं और उन्हें भौतिक एवं आत्मिक सभी प्रकार की लक्ष्मी स्वयं प्राप्त होती है।

काव्यशास्त्र के अनुसार इस श्लोक में श्लेषालंकार है। यहाँ 'गुण' और 'वर्ण' शब्दो के दो-दो अर्थ होते है। 'गुण' का अर्थ धागा (डोरा) और सद्गुण है तथा 'वर्ण' का एक अर्थ रंग और दूसरा अर्थ 'अक्षर' है। जैसे माला गुणो से अर्थात् धागो से निबद्ध गूँथी जाती है और विविध अनेक सुन्दर वर्ण (रंग) के पुष्पों वाली होती है, उसी प्रकार यह स्तुति भगवान् के सद्गुण से रची गई है और अनेक प्रकार के सुन्दर वर्णो-अक्षरो द्वारा रची गई है। माला कण्ठ में धारण करने वाले की लक्ष्मी (शोभा) बढ़ाती है। स्तुति कण्ठस्थ-कण्ठ मे स्थित- करने वाले की लक्ष्मी बढ़ाती है।

॥ आदिनाथ स्तोत्र समाप्त ॥



कल्याण-मन्दिर स्तोत्र

कल्याण-मन्दिरमुदारमवद्य-भेदि,
भीताभयप्रदमनिन्दितमङ्घ्रि-पद्मम्।
संसार-सागर-निमज्जदशेष-जन्तु-
पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य॥ १॥

हिन्दी पद्य : कल्य-धाम, भय-नाशक, पाप-हारी,
त्यों है जहाज भव-सिन्धु पड़े जनों के।
निन्दा-विहीन अति मानस सौख्यकारी,
पादारविन्द प्रभु के नमिके उन्हीं के॥ १॥

अन्वयार्थ :

कल्याण—	कल्याण से
मन्दिरम्—	मन्दिर
उदारम्—	उदार
अवद्य—	पापों को
भेदि—	भेदन करने वाले
भीताभयप्रदम्—	संसार के दुःखों से भयभीत प्राणियों को अभय देने वाले
अनिन्दितम्—	उत्कृष्ट-प्रशंसनीय
संसार—	संसार रूप
सागर—	समुद्र में
निमज्जदशेष—	गिरते हुए समस्त
जन्तु—	प्राणियों के लिए

पोतायमानम्—	जहाज के समान आधारभूत
जिनेश्वरस्य—	जिनेश्वरदेव के
अङ्घ्रि पद्मम्—	चरण-कमलो को
अभिनम्य—	नमस्कार करके

भावार्थ— कल्याण के धाम, उदार, पाप का नाश करने वाले, सांसारिक दु:खों के भय से आकुल प्राणियो को अभय प्रदान करने वाले, प्रशंसनीय, संसार रूपी सागर मे डूबते हुए प्राणियों के लिए जहाज के समान आधारभूत, श्री जिनेश्वर देव के चरण-कमलो को भली-भॉति नमस्कार करके।



यस्य स्वयं सुरगुरुः गरिमाम्बुराशे:,
स्तोत्र-सुविस्तृत-मतिर् न विभुर्विधातुम्।
तीर्थेश्वरस्य कमठ-स्मय-धूमकेतो-
स्तस्याहमेष किल संस्तवन करिष्ये॥ २॥

हिन्दी पद्य : श्री पार्श्वनाथ विभुका स्तव मैं रचूॅगा,
जो नाथ है कमठ-विघ्न-विनाश-कर्ता।
त्यों है अशक्त जिनके स्तव को बनाने,
अत्यन्त बुद्धि-धन भी गुरु जो सुरो का॥ २॥

अन्वयार्थ :

गरिमा—	महत्ता-महिमा के
अम्बुराशे:—	समुद्र
यस्य—	जिस (प्रभु) की
स्तोत्रं—	स्तुति
विधातुम्—	करने के लिए
स्वयं—	स्वयं
सुविस्तृत—	विशाल

मतिः—	बुद्धि वाला
सुरगुरुः—	बृहस्पति भी
विभुः—	समर्थ
न—	नहीं है, ऐसे
कमठस्मय—	कमठ के अहंकार को नष्ट करने के लिए
धूमकेतोः—	धूमकेतु (अग्नि) के समान
तस्य—	उन
तीर्थेश्वरस्य—	पार्श्वनाथ भगवान् की
किल—	आश्चर्य है कि
एषः अहम्—	यह (स्वल्प शक्तिवाला) मैं
संस्तवनं —	स्तुति
करिष्ये —	करूंगा

भावार्थ : जो कमठ दैत्य के अभिमान को भस्म करने के लिए धूमकेतु के समान थे, जो गुण-गरिमा के अपार सागर थे, जिनकी स्तुति करने के लिए अतिशय बुद्धिशाली देवताओं का गुरु स्वयं बृहस्पति भी समर्थ नहीं हो सका, आश्चर्य है-उन तीर्थपति श्री पार्श्वनाथ भगवान् की मैं स्तुति करूँगा।



सामान्यतोऽपि तव वर्णयितुं स्वरूप-
मस्मादृशाः कथमधीश! भवन्त्यधीशाः।
धृष्टोऽपि कौशिकशिशुर् यदि वा दिवान्धो,
रूपं प्ररूपयति किं किल धर्मरश्मेः? ॥३ ॥

हिन्दी पद्य : तेरा स्वरूप कुछ भी कहने समर्थ,
होवे प्रभो! किस तरा मुझ से मनुष्य।

हो ढीठ भी किस तरा पर घूक–बाल,
या घूक ही कह सके रवि का सुरुप ॥३ ॥

अन्वयार्थ :	**अधीश —**	हे स्वामिन्!
	सामान्यतः —	साधारण रीति से
	अपि —	भी
	तव —	आपके
	स्वरूपम् —	स्वरूप को
	वर्णयितुम् —	वर्णन करने के लिए
	अस्मादृशाः —	हमारे जैसे मनुष्य
	कथम् —	कैसे
	अधीशाः भवन्ति —	समर्थ हो सकते है?
	यदि वा —	जैसे
	दिवान्धः —	दिन मे अन्धा रहने वाला
	कौशिकशिशुः —	उल्लू का बच्चा
	धृष्टः —	ढीठ होकर
	अपि —	भी
	किम् —	क्या
	धर्म-रश्मेः —	सूर्य के
	रूपम् —	रूप का
	प्ररूपयति किल —	वर्णन कर सकता है? अर्थात् नहीं

भावार्थ : हे नाथ! आपके अनन्त महामहिम स्वरूप का साधारण रूप से भी वर्णन करने के लिए हमारे जैसे पामर प्राणी कैसे समर्थ हो सकते है ? दिन मे अन्धा रहने वाला उल्लू का बच्चा ढीठ क्यों न हो, क्या वह प्रचण्ड किरणों वाले सूर्य के उज्ज्वल स्वरूप का कुछ निरुपण कर सकता है? नही कर सकता।

मोह-क्षयादनुभवन्नपि नाथ! मर्त्यो,
नूनं गुणान् गणयितुं न तव क्षमेत।
कल्पान्त-वान्त-पयसः प्रकटोऽपि यस्मान्-
मीयेत केन जलधेर् ननु रत्न-राशिः ॥४॥

हिन्दी पद्य : है जानता हृदय में गुण मोह छूटे,
तेरे भवी गिन नहीं सकता परन्तु।
कल्पान्त में जलधि के सब रत्न दीखें,
अन्दाज कौन कर सकता है उन्हों का ॥४॥

अन्वयार्थ :

नाथ —	हे नाथ।
मर्त्यः —	मनुष्य
मोहक्षयात् —	मोहनीय कर्म के क्षय होने से
तव —	आपके
गुणान् —	गुणों को
अनुभवन् —	अनुभव करता हुआ
अपि —	भी
गणयितुं —	गिनने के लिए
नूनं —	निश्चय ही
न क्षमेत —	समर्थ नहीं हो सकता
यस्मात् —	क्योंकि
कल्पान्तवान्तपयसः —	प्रलय के समय जिसका जल बाहर
जलधेः —	निकल गया है ऐसे समुद्र की
प्रकटोपि —	स्पष्ट दृष्टिगोचर होने वाली भी
रत्नराशिः —	रत्नों की राशि
ननु —	निश्चय ही
केन —	किससे
मीयेत —	गिनी जा सकती है। अर्थात् किसी से भी नहीं।

भावार्थ : हे प्रभो। मोहनीय कर्म को क्षय कर देने के पश्चात् केवर ज्ञान के प्राप्त होने पर, महापुरुष निश्चय ही आपके गुणों को जान तो लेता है, किन्तु उनकी पूर्ण रूपेण गणना वह नही कर सकता, क्योकि वे गणना से अतीत है-असंख्य अनन्त है। जैसे-प्रलय काल मे पानी के न होने पर समुद्र की रत्नराशि स्पष्ट रूप से दिखाई तो देने लगती है, किन्तु क्या कोई उन रत्नों की गिनती कर सकता है? नही कर सकता।



अभ्युद्यतोऽस्मि तव नाथ। जडाशयोऽपि,
कर्तु स्तवं लसदसख्य-गुणाकरस्य।
बालोऽपि किं न निज बाहु-युगं वितत्य,
विस्तीर्णता कथयति स्वधियाम्बुराशेः ॥५ ॥

हिन्दी पद्य : तू है असंख्य गुण-शोभित, मूढ़ हूं मै,
तेरा तथापि रचने स्तव मैं खड़ा हूँ।
फैला भुजा स्वमति के अनुसार क्या है,
विस्तीर्णता न निधि की शिशु भी बताता ॥५ ॥

अन्वयार्थ :

नाथ —	हे नाथ।
अहम् —	यद्यपि मै
जडाशयः —	अज्ञ हूं
अपि —	तो भी
लसद् —	सुशोभित
असख्य —	असख्य
गुणाकरस्य —	गुणो की खान ऐसे

तव —	आपकी
स्तवं —	स्तुति
कर्तुम् —	करने के लिए
अभ्युद्यतः —	उद्यत
अस्मि —	हुआ हूँ, जैसे
बालः —	बालक
अपि —	भी
स्व —	अपनी
धिया —	बुद्धि के अनुसार
निज —	अपने
बाहुयुगं —	दोनों भुजाओं को
वितत्य —	फैलाकर
अम्बुराशेः —	समुद्र के
विस्तीर्णताम् —	विस्तार को
किम् —	क्या
न —	नहीं
कथयति —	कहता है? अर्थात् कहता ही है।

भावार्थ : हे नाथ! यह ठीक है कि मैं जड़बुद्धि हूं और आप अनन्त उज्ज्वल गुणों की खान है। तथापि भक्ति वश आपकी स्तुति करने के लिए तैयार हो गया हूं।

यह ठीक है कि समुद्र विशाल है और बालक के हाथ बहुत छोटे हैं। फिर भी क्या बालक अपने नन्हें-नन्हें हाथों को फैला कर, अपनी कल्पना के अनुसार, समुद्र के विस्तार का कथन नही करता? अवश्य करता है।

ये योगिनामपि न यान्ति गुणास्तवेश।
वक्तुं कथ भवति तेपु ममावकाशः?
जाता तदेवमसमीक्षित–कारितेयं,
जल्पन्ति वा निज–गिरा ननु पक्षिणोऽपि ॥६ ॥

हिन्दी पद्य : योगीश भी गिन नही सकते गुणो को,
तेरे प्रभो। फिर भला मम क्या चलाई?
मेरी हुई यह मुनीश बिना विचारी,
या बोलते विहग भी अपनी गिरा से ॥६ ॥

अन्वयार्थ :

ईशः —	हे भगवन्!
ये —	जो
तव —	आपके
गुणाः —	गुण
योगिनाम् —	योगियों द्वारा
अपि —	भी
वक्तुं —	कहे
न —	नहीं
यान्ति —	जा सकते
तेषु —	उनमे
मम —	मेरा
अवकाशः —	अवकाश (शक्ति)
कथम् —	कैसे
भवति —	हो सकता है?
तत् —	इसलिए
एवं इयम् —	इस प्रकार यह(मेरा)
असमीक्षित कारिता —	बिना विचारे ही कार्य करना हुआ

वा —	अथवा ठीक ही है
ननु —	निश्चय से
जिनगिरा —	अपनी वाणी के द्वारा
पक्षिणोऽपि —	पक्षी भी तो
जल्पन्ति—	बोलते ही हैं।

भावार्थ : हे जगत् के स्वामी। जबकि आपके गुणों का यथार्थ रूप से वर्णन करने में बड़े-वड़े प्रसिद्ध योगी भी समर्थ नही हो सकते, तब भला मेरी तो शक्ति ही क्या है? यह स्तुति का कार्य, मैंने बिना विचार ही शुरु कर दिया है। वस्तुतः यह कार्य मेरी पहुँच से बाहर है।

किन्तु मैं हताश क्यों होऊँ? शक्ति नहीं तो भी यथाशक्य प्रयत्न तो करुँगा। पक्षियों को मनुष्य की जैसी स्पष्ट भाषा मे बोलते नहीं आता, तो क्या हुआ? वे अपनी अस्पष्ट भापा में बोलते तो है ही।



आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन! संस्तवस्ते,
नामाऽपि पाति भवतो भवतो जगन्ति।
तीव्रातपोपहत-पान्थ-जनान् निदाघे,
प्रीणाति पद्म-सरसः सरसोनिलोऽपि॥७॥

हिन्दी पद्य : माहात्म्य तो स्तवन का तव है अचिन्त्य,
हैं नाम ही त्रिजग को भव से बचाता।
जो ग्रीष्म में पथिक आतप से सताये,
देती उन्हें सुख सरोवर की हवा से॥७॥

अन्वयार्थ :

जिन —	हे जिनेन्द्र!
अचिन्त्य—	चिन्तन में नही आने योग्य है।
महिमा —	महिमा जिनकी, ऐसी
ते —	आपकी

संस्तवः —	स्तुति तो
आस्ताम् —	दूर रहे (किन्तु)
भवतः —	आपका
नाम —	नाम मात्र
अपि —	भी
भवतः —	संसार से
जगन्ति —	लोगों को
पाति —	बचा लेता है, क्योकि
निदाघे —	ग्रीष्मऋतु मे
तीव्र —	तेज
आतपोपहत —	आतप–धूप से सताये हुए
पान्थजनान् —	पथिक जनो को
पद्म सरसः —	कमल सरोवर का
सरसः —	सरस शीतल
अनिलः —	पवन
अपि —	भी
प्रीणाति —	प्रसन्न कर देता है।

भावार्थ : हे राग–द्वेप के विजेता जिन! आपके अचिन्त्य महिमा वाले स्तवन के महत्व का तो कहना ही क्या है, केवल आपका नाम ही त्रिभुवन के प्राणियो को दुःख से बचा सकता है।

गर्मी के दिनो मे भयकर धूप से व्याकुल हुए मुसाफिरो को आनन्द प्रदान करने वाले कमल–सरोवर का तो कहना ही क्या है, उसकी केवल ठण्डी हवा ही उन्हे प्रसन्न कर देती है।



हृद्वर्तिनि त्वयि विभो! शिथिली भवन्ति,
जन्तोः क्षणेन निबिडा अपि कर्म-बन्धाः।
सद्यो भुजंगम-मया इव मध्य-भाग-
मभ्यागते वन-शिखण्डिनि चन्दनस्य ॥८॥

हिन्दी पद्य : तू लोक के हृदय में यदि हो विभो! तो,
ढीले तुरन्त पड़ते दृढ़ कर्म-बन्ध।
आया मयूर वनका कि भुजंग जैसे,
ढीले पडे तुरन्त चन्दन बन्ध छोड़ ॥८॥

अन्वयार्थ :

वनशिखण्डिनि —	वन-मयूर के
अभ्यागते —	समीप आने पर
चन्दनस्य —	चन्दन वृक्ष के
मध्यभागम् —	मध्यभाग में लिपटे हुए
भुजंगममया इव —	भयंकर सर्प रूपी बन्धन जैसे
सद्यः —	तत्काल
शिथिली भवन्ति —	ढीले पड़ जाते हैं। (उसी प्रकार)
विभो —	हे प्रभो!
त्वयि —	आप जब
जन्तोः —	प्राणियों के
हृद्वर्तिनि —	हृदय में निवास करते हैं तब उनके
निविडा —	सघन
कर्म —	कर्मों के
बन्धाः —	बन्धन
क्षणेन —	क्षण भर में
अपि —	ही
शिथिली भवन्ति —	ढीले हो जाते हैं।

भावार्थ : वन–मयूर ज्यों ही चन्दन के वृक्ष की ओर आता है, त्यो ही चन्दन वृक्ष के भयंकर सर्प रूपी बन्धन सहसा शिथिल हो जाते हैं। अर्थात् सर्प उसे छोड़कर भागने लगते हैं। क्योकि मयूर के सामने सर्प ठहर नहीं सकते, इसी प्रकार हे प्रभो! जब आप ध्यान–शील भक्त के हृदय मे विराजमान हो जाते है, तब उसके अत्यन्त गाढ़े कर्मबन्धन भी तत्काल शिथिल हो जाते हैं अर्थात् ढीले पड़ जाते है।



मुच्यंत एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्र।
रौद्रैरूद्रव–शतैः त्वयि वीक्षितेऽपि।
गो–स्वामिनि स्फुरिततेजसि दृष्टमात्रे,
चौरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः ॥९॥

हिन्दी पद्य : त्यागे अवश्य सहसा तुझको विलोके,
लाखो उपद्रव महेश्वर मानवो को।
तेजस्वि गोपति विलोकन–मात्र से ही,
ज्यों चोर छोड़ भगते पशु–वृन्दको है ॥९॥

अन्वयार्थ :

जिनेन्द्र —	हे जिनेन्द्र!
स्फुरित तेजसि —	बलवान् और तेजस्वी
गोस्वामिनि —	गोपालक को
दृष्टमात्रे —	देखते ही
आशु प्रपलायमानैः—	शीघ्र भागते हुए
चौरैः पशवः इव —	चोरों के द्वारा जैसे पशुगण छोड दिये जाते हैं, उसी प्रकार
त्वयि —	आपके
वीक्षितेऽपि —	दर्शन करते ही

मनुजाः —	मनुष्य
रौद्रैः —	महाभयंकर
उपद्रवशतैः —	सैकड़ो उपद्रवों से
सहसा —	शीघ्र
एव —	ही
मुच्यन्ते —	मुक्त हो जाते हैं।

भावार्थ : गॉव के पशुओं को चोर रात्रि में चुराकर ले जाते हैं, किन्तु ज्यों ही उन्हे बलवान् तेजस्वी ग्वाला दिखाई देता है, त्यों ही वे पशुओ को छोड़कर झटपट भाग खडे होते है। मालिक के सामने कही चोर ठहर सकते हैं? इसी प्रकार हे जिनेन्द्र! आपके दर्शनमात्र से भक्त जन सैकड़ो भयंकर उपद्रवों से तत्काल मुक्त हो जाते हैं। आपके दर्शन और संकट? यह मेल ही नहीं बैठता।

त्वं तारको जिन! कथं भविनां त एव,
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्तः।
यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेप नून-
मन्तर्गतस्य मरुतः सः किलानुभावः॥१०॥

हिन्दी पद्य : तू तारता किस तरा भवि मानवों को,
वे ही तुझे हृदय मे रखके तिराते।
या वारि में मसक जो तिरती विभो। है,
सो है प्रभाव वस भीतर की हवा का॥१०॥

अन्वयार्थ :

जिन —	हे जिनेन्द्र।
त्वम् —	आप
भविनां —	संसारी जीवो के
तारकः —	तारक
कथम् —	कैसे हो सकते है?

यत् —	क्योंकि
उत्तरन्तः —	संसार समुद्र से पार होते हुए
त एव —	संसारी जीव ही
हृदयेन —	हृदय से
त्वाम् —	आपको
उद्वहन्ति —	तिरा कर ले जाते हैं। सो ठीक ही है।
यद्वा —	अथवा
यत् —	जो
दृतिः —	मशक
जलं —	जल मे
तरति —	तैरती है
स —	वह
नूनम् —	निश्चय
एव —	ही
अन्तर्गतस्य —	उसके अन्दर भरी हुई
मरुतः —	वायु का
किल —	ही
अनुभावः —	प्रभाव है।

भावार्थ : हे जिनेश्वर देव! आप भव्य जीव को संसार-सागर से पार उतारने वाले तारक कैसे हो सकते हैं? क्योकि भव्य जीव जब संसार-सागर से पार उतरते है, तब वही आपको अपने हृदय में धारण किये होते है।अत: उनके साथ-साथ आप भी तिरते है। आप उनको कहा धारण करते है? किन्तु ठीक है-समझ मे आ गया। अन्दर मे पवन से भरी हुई मशक जब जल में तैरती है, तब वह, अन्दर मे स्थित पवन के प्रभाव से ही तो तैरती हैं, स्वय कहा तैरती है? इसी प्रकार हृदय मे स्थित आपके प्रभाव मे

ही जीव संसार-सागर को पार करते हैं।



यस्मिन् हर-प्रभृयोऽपि हत-प्रभावाः,
सोऽपि त्वया रति-पतिः क्षपितः क्षणेन।
विध्यापिता हुत-भुजः पयसाऽथ येन,
पीतं न किं तदपि दुर्धर-वाडवेन॥११॥

हिन्दी पद्य : जिस्पै प्रभाव चलता न बडे सुरों का,
तूने किया वश विभो! उस काम को भी।
देता बुझा सलिल स सब वह्नियो को,
सो वाडवाग्नि पर जोर चला न सकता॥११॥

अन्वयार्थ :

यस्मिन् —	जिसके सामने
हरप्रभृतयः —	हरि-हरादि देव
अपि —	भी
हतप्रभावाः —	प्रभावहीन-पराजित हो गये
सः —	वह
रतिपतिः —	कामदेव
अपि —	भी
त्वया —	आपके द्वारा
क्षणेन —	क्षण मात्र में
क्षपितः —	नष्ट कर दिया गया। सो ठीक ही है-
अथ —	क्योकि
येन —	जिस
पयसा —	जल से
हुतभुजः —	अग्नि
विध्यापिता—	बुझायी जाती है।

तत् —	वह जल
अपि —	भी
किम् —	क्या
दुर्धर —	प्रचण्ड
वाडवेन —	वडवानल से
न पीतं —	नही पीया गया? अर्थात् उस जल को भी क्या वडवानल नही सोख लेता है? अवश्य सोखता है।

भावार्थ : हे देव! जिस कामदेव के सामने सुप्रसद्धि हरि-हर आदि देव भी निस्तेज हो गये-उससे पराजित हो गए। उसी त्रिभुवनविजयी कामदेव को आपने क्षण भर मे नष्ट कर दिया। यह महान् आश्चर्य है।

अथवा इसमे आश्चर्य की क्या बात है? जो जल ससार के समस्त अग्निकाण्डो को बुझाकर शान्त कर सकता है, उसी जल को क्या समुद्र का प्रचण्ड वडवानल जलाकर नष्ट नही कर देता है? अवश्य कर देता है।



स्वामिन्ननल्प-गरिमाणमपि प्रपन्नास्-
त्वा जन्तवः कथमहो हृदये दधानाः?
जन्मोदधि लघु तरन्त्यतिलाघवेन,
चिन्त्यो न हन्त महतां यदि वा प्रभावः॥१२॥

हिन्दी पद्य : अत्यन्त गौरव विभो! तुझमे दिखाता,
कैसे तुझे फिर धरें हिय मे मनुष्य।
संसार -सिन्धु तरते श्रम के बिना ही,
जाना प्रभाव नहिं जाय महाजनों का॥१२॥

अन्वयार्थ :

स्वामिन् —	हे भगवन्!
अहो —	आश्चर्य है कि
अनल्प —	अत्यन्त
गरिमाणम् अपि —	गौरव (गुरुता) को प्राप्त ऐसे
त्वां —	आपको
हृदये —	हृदय में
दधानाः —	धारण करते हुए भी
प्रपन्नाः —	शरण में आये हुए
जन्तवः —	जीव
जन्म —	संसार रूपी
उदधि —	समुद्र को
अति —	बहुत ही
लाघवेन —	लघुता से-शीघ्रता से
कथम् —	कैसे
लघु तरन्ति—	शीघ्र तिर जाते है?
यदि वा —	अथवा
हन्त —	आश्चर्य की वात है कि
महतां —	महापुरुपो का
प्रभावः —	प्रभाव
चिन्त्यः —	चिन्तन में
न —	नहीं
भवति —	आता है।

भावार्थ : हे प्रभो। बड़े भारी आश्चर्य की वात हैकि अनन्तानन्त गरिमा-गुरुतावाले आपको अपने हृदय में धारण करके भी भक्तजन वहुत हलके रहते है ससार समुद्र को झटपट पार कर जाते हैं। इतना भार उठाकर भी इतना हल्कापन? महान् आश्चर्य।

अथवा इसमे आश्चर्य की क्या बात है? महापुरुपो का प्रभाव अचिन्त्य होता है। वे जो कुछ भी करके दिखा दे, वह सब सम्भव है। उनका प्रत्येक कार्य चमत्कारमय एवं रहस्यपूर्ण होता है।



क्रोधस्त्वया यदि विभो! प्रथमं निरस्तो,
ध्वस्तास्तदा वद कथं किल कर्म-चौराः?
प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिराऽपि लोके,
नीलद्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी ॥१३॥

हिन्दी पद्य : तूने प्रभो प्रथम ही यदि रोप मारा,
मारे बता किस तरा फिर कर्म-चौर।
या लोक मे इस जगा नहि क्या जलाता,
पाला सुशीतल, हरे तरु के वनो को ॥१३॥

अन्वयार्थ :

विभो—	हे प्रभो!
यदि—	यदि
त्वया—	आपने
क्रोधः—	क्रोध को
प्रथमं—	पहले ही
निरस्तः—	नष्ट कर दिया है,
तदा—	तब
वद—	बताइये
कर्म-चौराः—	कर्म रूपी चोरों को
कथम्—	कैसे
ध्वस्तः किल—	नष्ट किया?
लोके—	लोक मे

यदि वा अमुत्र—	अथवा यहाँ ऐसा भी तो होता है कि
हिमानी—	बर्फ अर्थात् पाला
शिशिरापि—	ठण्डा होने पर भी
किम्—	क्या
नीलद्रुमाणि—	हरे-भरे वृक्ष हैं जिनमें, ऐसे
विपिनानि—	वनों का
न प्लोषति—	नहीं जला देता है? अर्थात् जला ही देता है।

भावार्थ— हे प्रभो ! आपने क्रोध को तो पहले ही नष्ट कर दिया था, तब फिर कर्मशत्रुओं को कैसे नष्ट किया? क्योंकि बिना रोष के भला कोई किसी को कैसे नष्ट कर सकता है? नहीं कर सकता।

अहो, मैं ही भूल रहा हूँ? क्योंकि क्रोध की अपेक्षा क्षमा की शक्ति अतुल्य है। आग की अपेक्षा बर्फ की शक्ति ही तो महान् है। हम देखते हैं कि जब शीत-काल मे अत्यधिक शीत होने के कारण हिम-पाला पड़ता है, तब हरे-भरे वृक्षों वाले सघन वन भी जल कर ध्वस्त हो जाते हैं।



त्वां योगिनो जिन! सदा परमात्मरूप-
मन्वेपयन्ति हृदयाम्बुज-कोश-देशे।
पूतस्य निर्मलरुचे र्यदि वा किमन्य-
दक्षस्य सम्भविपदं ननु कर्णिकायाः॥ १४॥

हिन्दी पद्य : स्वामिन् सदा हृदय के बिच हेरते हैं,
योगीन्द्र भी तुझ परात्पर देवता को।
क्या कर्णिका तज कही दूसरी जगा पै,
होता पवित्र अति निर्मल पद्म-बीज॥ १४॥

अन्वयार्थ :

जिन—	हे जिन!
योगिनः—	योगी, महात्मा जन
सदा—	निरन्तर
परमात्मरूपं—	परमात्मस्वरूप
त्वां—	आपको
हृदय—	(अपने) हृदय
अम्बुज—	कमल के
कोशदेशे—	मध्यभाग में
अन्वेषयन्ति—	ढूँढते है।
यदि वा—	अथवा—उचित ही है
पूतस्य—	पवित्र
निर्मलरुचेः—	निर्मल कान्ति वाले
अक्षस्य सम्भवि पदं—	कमल बीज का उत्पत्तिस्थान अथवा शुद्धात्मा की खोज करने का स्थान
ननु कर्णिकायाः—	हृदयकमल की कर्णिका को छोड़कर
अन्यत् किम्—	अन्य क्या हो सकता है?

भावार्थ— हे जिन! आप परमात्म-स्वरूप हैं, कर्ममल से रहित शुद्ध आत्म-स्वरूप है। अतः बड़े-बड़े योगी जन अपने हृदय-कमल की कर्णिका मे आपको खोजते है, आपका ध्यान करते हैं।

जैसे कमल के अक्ष-बीज का स्थान कमल की कर्णिका है, उसी प्रकार आप भी जब कर्म-मल से रहित होकर पवित्र निर्मल कान्ति वाले अक्ष-परमात्मा बन गये तो आपका स्थान भी हृदय-कमल की कर्णिका को छोड़कर अन्यत्र कहाँ हो सकता है? अक्ष तो कमल की कर्णिका में ही मिलेगा न?



ध्यानाज्जिनेश ! भवतो भविनः क्षणेन,
देहं विहाय परमात्म-दशां व्रजन्ति।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके,
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः॥ १५॥

हिन्दी पद्य : हे नाथ ! ध्यान करके भवि लोक तेरा,
पाते तुरन्त तन छोड़ परेशता को।
तीव्राग्नि ताप-वश पत्थर-भाव छोड़,
पाते सुवर्णपन धातुविशेष ज्यों है॥ १५॥

अन्वयार्थ :

जिनेश—	हे जिनेश!
भविनः—	संसारी जीव
भवतः—	आपके
ध्यानात्—	ध्यान से
क्षणेन—	क्षण भर में
देहम्—	शरीर को
विहाय—	छोड़कर
परमात्म-दशाम्—	परमात्मा की अवस्था को
व्रजन्ति—	प्राप्त कर लेते है।
लोके—	(जैसे) लोक में
धातु-भेदाः—	विविध धातुएँ
तीव्रानलात्—	तीव्र अग्नि के संयोग से
उपलभावम्—	पत्थर के रूप को
अपास्य—	छोड़कर
अचिरादिव—	शीघ्र ही
चामीकरत्वम्—	सुवर्ण के रूप को
(व्रजन्ति)—	प्राप्त कर लेती हैं।

भावार्थ— हे जिनेन्द्र ! विशुद्ध हृदय से आपका ध्यान करने से संसार के भव्य जीव शीघ्र ही इस शरीर को छोडकर अशरीरी होकर—शुद्ध परमात्मदशा प्राप्त कर लेते है।

संसार मे हर कोई देखता है कि प्रचण्ड अग्नि का सम्पर्क पाते ही सुवर्ण धातु अपने साथ संलग्न पाषाण आदि अन्य धातुओ को छोड़कर शीघ्र ही अपने सुवर्णत्वरूप शुद्ध दशा को प्राप्त हो जाती है।



अन्तः सदैव जिन ! यस्य विभाव्यसे त्वं,
भव्यैः कथं तदपि नाशयसे शरीरम् ?
एतत्स्वरूपमथ मध्यविवर्तिनो हि,
यद् विग्रहं प्रशमयन्ति महानुभावाः॥ १६॥

हिन्दी पद्य : ध्याते सुभव्य तुझको जिसमे सदा ही,
कैसे विनाश करता उस देह का तू ?
मध्यस्थ का यह मनोहर रूप ही है,
या नाथ, जो विकट विग्रह को नशावे॥ १६॥

अन्वयार्थ :

जिन—	हे जिनेन्द्र !
भव्यैः—	भव्य जीवो के द्वारा
यस्य—	जिस शरीर के
अन्तः—	भीतर
त्वम्—	आप
सदैव—	हमेशा ही
विभाव्यसे—	ध्याये जाते है
तत्—	उस
शरीरम्—	शरीर को

अपि—	ही आप
कथम्—	क्यो
नाशयसे—	नष्ट करा देते हैं ?
अथ—	अथवा
एतत्—	यह
स्वरूपं हि—	स्वभाव ही है
यत्—	कि
मध्य-विवर्तिनः—	मध्यवत्
महानुभावाः—	महापुरुष
विग्रहं—	विग्रह को अर्थात् उपद्रव को
प्रशमयन्ति—	शान्त करते हैं।

भावार्थ— हे जिनेन्द्र ! जिस शरीर के अन्दर (हृदय) मे भव्य प्राणी आपका निरन्तर ध्यान करते हैं, आश्चर्य है, आप उसी विग्रह अर्थात् शरीर को नष्ट करने का उपदेश देते है? यह कैसी विपरीत गति है? कुछ समझ में नही आता।

अथवा आपका यह कार्य सर्वथा उचित ही है। जब महापुरुष मध्यस्थ हो जाते है, बीच में पड़ जाते हैं तो विग्रह (कलह) को पूर्णतया समाप्त करा देते हैं।

विग्रह शब्द के दो अर्थ हैं— कलह और शरीर।



आत्मा मनीपिभिरयं त्वदभेदबुद्ध्या,
ध्यातो जिनेन्द्र ! भवतीह भवत्प्रभावः।
पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमानं,
किं नाम नो विपविकारमपाकरोति॥ १७॥

हिन्दी पद्य : तेरे समान जगदीश ! प्रभाव वाला,
आत्मा बने भज तुझे तज भिन्न भाव।
पीयूष भाव धर मन्त्रित वारि जो है,
सो दूर क्या न करता विष के विकार॥ १७॥

अन्वयार्थ : **जिनेन्द्र—** हे जिनेन्द्र !
इह— इस लोक मे
मनीषिभिः— बुद्धिमान् पुरुपो द्वारा
त्वद्— आपसे
अभेद-बुद्ध्या— अभिन्न बुद्धि से
ध्यातः— ध्यान किया हुआ
अयम् आत्मा— यह आत्मा
भवद्— आप जैसा ही
प्रभावः— प्रभावशाली
भवति— हो जाता है।
अमृतं इति— 'यह अमृत है' ऐसे
अनुचिन्त्यमानं— दृढ़ विचार से (पिया गया)
पानीयमपि— पानी भी
किम्— क्या
विषविकारं— विष के विकार को
नो— नही
अपाकरोति नाम— दूर कर देता है?

भावार्थ— हे जिनेन्द्र ! जब अध्यात्म चेतना वाले मनीपी पुरुप अपनी आत्मा का आपसे अभेद रूप मे, अर्थात् परमात्मरूप मे ध्यान करते है, तो उनकी वही साधारण आत्मा भी आप जैसी ही प्रभावशाली परमात्मरूप बन जाती है, अर्थात् परमात्मा बन जाती है।

पानी को भी यदि दृढ़तर भावना से अमृत समझ कर उपयोग मे लाया जाय तो क्या वह अमृत के समान विष के विकार को दूर नहीं करता है? करता ही है।



त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि,
नूनं विभो हरिहरादिधिया प्रपन्नाः।
किं काचकामलिभिरीश सितोऽपि शंखो,
नो गृह्यते विविधवर्ण-विपर्ययेण॥ १८॥

हिन्दी पद्य : तू वीतराग विभु है, भजते तुझे ही,
नाना-मती हरि-हरादिक भाव से हैं।
हो दृष्टि भेद जिनमे उनको विभो, क्या,
है दीखता विविध रंगत का न शंख॥ १८॥

अन्वयार्थ :

विभो—	हे स्वामिन् !
वीततमसं—	अज्ञान रूप अन्धकार से रहित
त्वाम्—	आपको
एव—	ही
परवादिनः—	अन्य मतावलम्बी पुरुप
अपि—	भी
ननु—	निश्चय से
हरिहरादिधिया—	विष्णु महादेवादि समझकर
प्रपन्नः—	पूजते हैं।
ईश—	हे ईश
काचकामलिभिः—	काच कामला (पीलिया) रोग वाले पुरुषों के द्वारा

किम्—	क्या
सितः—	सफेद
शंख—	शंख
अपि—	भी
विविध—	अनेक प्रकार के
वर्ण-विपर्ययेण—	विपरीत वर्णो से
नो गृह्यते—	ग्रहण नही किया जाता है? अर्थात् किया ही जाता।

भावार्थ— हे प्रभो । दूसरे मतो के मानने वाले लोगो ने भी आप वीतराग देव को ही अपने हरि-हर देवताओ के रूप मे स्वीकार कर रखा है।

जिस मनुष्य को भी पीलिया रोग हो जाता है, क्या वह विल्कुल स्वच्छ श्वत वर्ण के शख को भी पीला नही देखने लगता है? अवश्य देखने लगता है?



धर्मोपदेशसमये सविधानुभावा-
दास्तां जनो भवति ते तरुरप्यशोकः।
अभ्युद्गते दिनपतौ समहीरुहोऽपि,
कि वा विबोधमुपयाति न जीवलोक·॥ १९॥

हिन्दी पद्य : धर्मोपदेश करता जब तू, जनो की-
क्या वात नाथ । बनता तरु भी अशोक।
होता प्रकाश जव सूरज का नही क्या,
पाता प्रवोध तरु संयुत जीवलोक॥ १९॥

अन्वयार्थ :	**धर्मोपदेश—**	धर्मोपदेश के
	समये—	समय में
	ते—	आपकी
	सविधानुभावात्—	सन्निकटता के प्रभाव से
	जनः आस्तां—	मनुष्य तो दूर रहे
	तरुः—	वृक्ष
	अपि—	भी
	अशोकः—	अशोक
	भवति—	हो जाता है।
	वा—	अथवा
	दिनपतौ—	सूर्य के
	अभ्युद्गते—	उदय होने पर
	स महीरुहोऽपि—	वृक्षादि के भी साथ
	जीवलोकः—	समस्त जीवलोक (संसार)
	किम्—	क्या
	विबोधं—	विकास को
	न उपयाति—	नहीं प्राप्त होता है?

भावार्थ— हे प्रभो ! जिस समय आप धर्मोपदेश करते हैं, उस समय आपके सत्संग के प्रभाव से वृक्ष भी 'अशोक' हो जाता हैं, तब फिर मानव समाज के अशोक अर्थात् शोक-रहित होने में तो आश्चर्य ही क्या है।

जब प्रातःकाल सूर्य का उदय होता है, तब केवल मानव समाज ही निद्रा त्याग कर प्रबुद्ध होता है यह बात नहीं, अपितु कमलादि समस्त जीव-लोक भी प्रबुद्ध हो जाता है। यह अशोक वृक्ष प्रातिहार्य का वर्णन है।



चित्रं विभो । कथमवाङ्मुख-वृन्तमेव,
विष्वक् पतत्यविरला सुर-पुष्प-वृष्टिः।
त्वद्गोचरे सुमनसां यदि वा मुनीश,
गच्छन्ति नूनमध एव हि बन्धनानि॥ २० ॥

हिन्दी पद्य : आश्चर्य किस तरा सुर-पुष्प-वृष्टि,
स्वामिन् । निरन्तर अवाङ्-मुख हो रही है।
है या तुझे सुमन ये जब देख पाते,
जाते तभी सकल बन्धन नाथ नीचे॥ २० ॥

अन्वयार्थ :

विभो—	हे स्वामिन् ।
चित्रम्—	आश्चर्य है कि
विष्वक्—	चारो ओर
अविरला—	अविरल (विरलता-रहित सघन)
सुरपुष्पवृष्टिः—	देवताओ के द्वारा की गई पुष्पवर्षा
अवाङ्मुखवृन्तम्—	नीचे डण्ठल और ऊपर को है पांखुरी जिसकी
कथम्—	ऐसी क्यों
पतति—	गिरती है?
यदि वा—	अथवा ठीक ही है।
मुनीश—	हे मुनीश ।
त्वद्—	आपके
गोचरे—	समक्ष
सुमनसां—	सुमनसो—पुरुषों अथवा उत्तम मन वाले पुरुषो के
बन्धनानि—	बन्धन
नूनं—	निश्चय से

हि—	ही
अध—	नीचे को
एव—	ही
गच्छन्ति—	जाते हैं।

भावार्थ— हे भगवन् ! महान् आश्चर्य है कि आपके समवसरण में देवताओं द्वारा सब ओर से की जाने वाली अविरल पुष्पवर्षा के सभी सुमन अर्थात् पुष्प अपने डण्ठल नीचे की ओर किये हुए ऊर्ध्वमुख ही पडते हैं। एक भी ऐसा पुष्प नहीं जो ऊपर की ओर डण्ठल किये अधोमुख पड़ता हो।

यह ठीक ही है, हे मुनीश ! जब भी कोई सुमन (स्वच्छ-पवित्र मन वाला) आपके पास आता है, तो उसके बन्धन सदा नीचे की ओर ही खिसकते हैं, कभी भी ऊपर की ओर उभर नहीं सकते। यह पुष्पवृष्टि प्रातिहार्य का वर्णन है।



स्थाने गभीर-हृदयोदधि-सम्भवायाः,
पीयूषतां तव गिरः समुदीरयन्ति।
पीत्वा यतः परम-सम्मद-सङ्गभाजो,
भव्या व्रजन्ति तरसाप्यजरामरत्वम्॥ २१ ॥

हिन्दी पद्य : 'तेरी गिरा अमृत है' यह जो कहाता,
है योग्य, क्योंकि हृदयोदधि से उठी है।
पीके तथा मद भरे जन भी उसे हैं,
होते तुरन्त अजरामर सौख्य-धाम॥ २१ ॥

अन्वयार्थ :

गभीर—	गम्भीर
हृदय—	हृदय रूपी

उदधि—	समुद्र से
सम्भवाया:—	पैदा हुई
तव—	आपकी
गिर:—	वाणी को ज्ञानी पुरुप
पीयूषतां समुदीरयन्ति—	अमृत कहते हैं
यत:—	क्योंकि
भव्या:—	भव्य प्राणी
ताम्—	उसे
पीत्वा—	पीकर
परम—	श्रेष्ठ
संमदसङ्गभाज:—	आनन्द को प्राप्त करते हुए
तरसापि—	बहुत ही शीघ्र
अजरामरत्वं—	अजर अमर पद को
व्रजन्ति—	प्राप्त होते हैं

भावार्थ— हे जिनेन्द्र ! आपके गम्भीर हृदय रूपी समुद्र से उपलब्ध होने वाली आपकी मधुर वाणी को ज्ञानी पुरुष जो अमृत कहते है, वह उचित ही है।

क्योंकि जिस प्रकार अमृत का पान कर मनुष्य अजर-अमर हो जाते हैं, उसी प्रकार भव्य प्राणी भी आपके वचनामृत का पान करके शीघ्र ही परम आनन्द से युक्त होकर अजर-अमर हो जाते है। जन्म, जरा और मरण के दुखो से छूट कर सदा के लिए सच्चिदानन्द सिद्ध हो जाते हैं। यह दिव्यध्वनि प्रातिहार्य का वर्णन है।



स्वामिन् ! सुदूरमवनम्य समुत्पतन्तो,
मन्ये वदन्ति शुचयः सुर-चामरौघाः।
येऽस्मै नतिं विदधते मुनि-पङ्गवाय,
ते नूनमूर्ध्वगतयः खलु शुद्धभावाः॥ २२॥

हिन्दी पद्य : हे नाथ ! दूर नभ के उड़ते हुए ये,
मानों यही कह रहे सुर-चामरौघ।
'जो हैं प्रणाम करते इस नाथ को हैं,
वे शुद्ध भाव बनके गति उच्च पाते'॥ २२॥

अन्वयार्थ :

स्वामिन्—	हे स्वामिन् !
मन्ये—	मैं मानता हूँ
शुचयः—	स्वच्छ
सुरचामरौघाः—	देवताओं द्वारा ढुलाए जाने वाले श्वेत चंवर
सुदूरं अवनम्य—	अति नीचे झुककर पुनः ऊपर को उठते हुए
वदन्ति—	लोगों से कह रहे है कि
ये—	जो
अस्मै—	इन
मुनिपुंगवाय—	श्रेष्ठ मुनीन्द्र को
नतिं—	नमस्कार
विदधते—	करते हैं
ते—	वे पुरुष
नूनं—	निश्चय करके
शुद्धभावाः—	विशुद्ध परिणाम वाले होकर
खलु—	निश्चय
ऊर्ध्वगतयः—	ऊर्ध्वगति वाले
भवन्ति—	होते हैं।

भावार्थ— हे भगवन् ! देवताओ द्वारा ढोले जाने वाले स्वच्छ श्वेत चवर अति नीचे झुककर, पुनः ऊपर उठ जाते हें, मानो ऐसा करके वे रहस्यपूर्ण ढंग से जनता को मौन सूचना देते है।

वे यह सूचित करते है कि जो भी व्यक्ति इस ससार के सर्वश्रेष्ठ महामुनि को भक्तिपूर्वक नम्र होकर नमस्कार करते हैं, वे निश्चय ही शुद्ध स्वरूप प्राप्त कर ऊर्ध्व गति को प्राप्त होते है, अर्थात् नियम से मोक्ष मे जाते है। यह 'चामर' प्रातिहार्य का वर्णन है।



श्याम गम्भीर-गिरमुज्ज्वलहेमरत्न-
सिहासनस्थमिह भव्य-शिखण्डिनस्त्वाम्।
आलोकयन्ति रभसेन नदन्तमुच्चैश्-
चामीकराद्रि-शिरसीव नवाम्बुवाहम्॥ २३॥

हिन्दी पद्य : तू श्याम है, तव गिरा सुगभीर, तेरा-
सिंहासन प्रचुर रत्न-सुवर्ण वाला।
देखे तुझे प्रणयि भव्य मयूर नीके,
मानो सुमेरु-शिर पै नव मेघ गाजै॥ २३॥

अन्वयार्थ :

इह—	इस लोक मे
श्यामं—	श्याम वर्ण वाले
गम्भीर गिरम्—	गम्भीर दिव्य ध्वनि करने वाले
उज्ज्वल—	उज्ज्वल
हेम—	स्वर्ण से निर्मित
रत्न—	रत्नो से जडित
सिंहासनस्थं—	सिहासन पर स्थित
त्वाम्—	आपको

भव्य—	भव्य प्राणी रूप
शिखण्डिनः—	मयूर
चामीकराद्रिशिरसि—	सुमेरु पर्वत के शिखर पर
उच्चैः—	उच्च स्वर से
नदन्तम्—	गरजते हुए
नव—	नवीन-सजल
अम्बुवाहम्—	मेघ के
इव—	समान
रभसेन—	अति उत्सुकता से
आलोकयन्ति—	देखते हैं।

भावार्थ— हे प्रभो ! जब आप रत्नों से जड़े हुए उज्ज्वल स्वर्णमयी सिंहासन पर विराजमान होते हैं और गम्भीर वाणी के द्वारा धर्मदेशना करते हैं, तब भव्य प्राणी रूप मयूर श्याम वर्ण वाले आपको बहुत ही उत्सुक होकर इस प्रकार देखते हैं, मानो सुवर्णमय सुमेरु पर्वत के शिखर पर वर्षाकालीन श्याम मेघ घुमड़ता हुआ जोर से गरज रहा हो। यह 'सिंहासन' प्रातिहार्य का वर्णन है।



उद्गच्छता तव शित-द्युति-मण्डलेन,
लुप्त-च्छदच्छविरशोक-तरुर्बभूव।
सान्निध्यतोऽपि यदि वा तव वीतराग,
नीरागतां व्रजति को न सचेतनोऽपि॥ २४॥

हिन्दी पद्य : भामण्डल प्रबल जो तव नाथ, फैला,
भाया अशोक तरु पत्र छटा लुटाके।
तेरे समीप रहे चेतन कौन हैं जो,
हे वीतराग ! धर ले न विरक्तता को॥ २४॥

अन्वयार्थ : यदि वा—	यदि
तव—	आपकी
सान्निध्यतः—	समीपता से
अपि—	भी
अशोकतरुः—	अशोक वृक्ष
तव—	आपके
उद्गच्छता—	स्फुरायमान उज्ज्वल
शितद्यु तिमण्डलेन—	प्रभा-मण्डल से
लुप्तच्छदच्छविः—	छविहीन (फीके) पत्रो वाला
बभूव—	हो गया तो
वीतराग—	हे वीतराग ।
कः—	कौन
सचेतनः—	ज्ञान-चेतनावान् होकर
अपि—	भी
नीरागताम्—	वीतरागता को
न व्रजति—	न प्राप्त हो?

भावार्थ— हे नाथ । आपके दिव्य शरीर से ऊपर की ओर निकलने वाली किरणों के नील प्रभामण्डल से अशोक वृक्ष के लाल पत्ते भी अपनी रागरूप लालिमा से रहित हो जाते है।

हे वीतराग । आपकी वाणी सुनना और आपका ध्यान करना तो महत्त्व की वस्तु है ही, किन्तु यहॉ तो आपके समीप रहने मात्र से कौन ऐसा सचेतन प्राणी है जो वीतराग अर्थात् राग-रहित नहीं हो जाता? सभी राग-रहित अवश्य हो जाते हैं। यह 'भामण्डल' प्रातिहार्य का वर्णन है।



भो भोः प्रमादमवधूय भजध्वमेन-
मागत्य निर्वृतिपुरीं प्रति सार्थवाहम्।
एतन्निवेदयति देव! जगत्त्रयाय,
मन्ये नदन्नभिनभः सुर-दुन्दुभिस्ते ॥२५॥

हिन्दी पद्य : जीवों प्रमाद तज दो, भज ईश को लो,
है मार्गदर्शक, यहां बस पास आओ।
ये बात तीन जग को बतला रहा है,
आकाश-बीच सुर-दुन्दुभि-नाद तेरा ॥२५॥

अन्वयार्थ :

देव —	हे देव!
मन्ये —	मैं मानता हूं कि
अभिनभः —	आकाश मे सर्व ओर
नदन् —	गर्जना करती हुई
ते —	आपकी
सुर —	देव
दुन्दुभिः —	दुन्दुभि
जगत्त्रयाय —	तीनों लोक के लिए
एतत् —	यह
निवेदयति —	सूचित करती है कि
भो भोः —	हे प्राणियों!
प्रमादम् —	प्रमाद को
अवधूय —	छोड़ करके
निर्वृतिपुरी प्रति —	मोक्षपुरी को जाने वाले
एनम् —	इन

सार्थवाहम् — सार्थवाह की
आगत्य — शरण मे आकर
भजध्वम् — सेवा करो

भावार्थ : हे देव! आकाश में सब ओर गर्ज करती हुई देव-दुन्दुभि तीन जगत् को इस प्रकार सूचना देती है कि-

ये भगवान् पार्श्वनाथ मोक्षपुरी को जाने वाले सार्थवाह हैं, बड़े व्यापारी हैं। अतएव हे मोक्षपुरी की यात्रा करने वाले मुमुक्षु यात्रियो! आलस्य त्याग कर शीघ्र आकर इनकी सेवा करो। यह 'दुन्दुभि' प्रातिहार्य का वर्णन है।



उद्योतितेषु भवता भुवनेषु नाथ!
तारान्वितो विधुरय विहताधिकारः।
मुक्ताकलाप - कलितोल्लसितातपत्र-
व्याजात् त्रिधा धृततनुर् ध्रुवमभ्युपेतः॥२६॥

हिन्दी पद्य : तेरे प्रकाशित किये जग में हुआ है,
तारा-समेत अधिकार-विहीन चन्द्र।
मुक्ता-कलाप-परिशोभित छत्ररूप,
हो, तीन देह धरके तव पास आया॥२६॥

अन्वयार्थ : **नाथ —** हे नाथ!
भवता — आपके द्वारा
भुवनेषु — तीनों ही लोको को
उद्योतितेषु — दिव्य ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित कर देने पर
मुक्ताकलाप — मोतियों के समूह से

कलित —	सुशोभित
विहताधिकारः—	अपने कर्तव्य से भ्रष्ट-वेकार हुआ
अयम् —	यह
तारान्वितः—	ताराओं से वेष्टित
विधुः—	चन्द्रमा
उल्लसितातपत्र—	(तीन) श्वेत छत्रों के
व्याजात्—	बहाने से
त्रिधा—	तीन
धृत तनुः—	शरीर बना करके
ध्रुवम् —	निश्चय से
अभ्युपेतः—	आपकी सवा में उपस्थित हो गया है।

भावार्थ : हे नाथ! जब आपने अपने दिव्य ज्ञान के प्रकाश से तीन जगत् को प्रकाशित कर दिया, तब चन्द्रमा का अपना प्रकाश करने का अधिकार छिन गया। वह निकम्मा हो गया।

तव चन्द्रमा क्या करता? वह तारा मण्डल को साथ लेकर मोतियों के समूह से युक्त एवं सुशोभित तीन श्वेत छत्रों के रूप में तीन शरीर बनाकर आपकी सेवा में ही उपस्थित होगया है। यह 'छत्रत्रय' प्रातिहार्य का वर्णन है।



स्वेन प्रपूरित-जगत्त्रय-पिण्डितेन।
कान्ति-प्रताप-यशसामिव संचयेन।
माणिक्य-हेम-रजत-प्रविनिर्मितेन,
साल-त्रयेण भगवन्नभितो विभासि॥२७॥

हिन्दी पद्य : चांदी सु्वर्ण मणि माणिक के बनाये,
है तीन कोट भगवन्! चहुँ ओर तेरे।
कीर्त्ति प्रताप द्युति के समुदाय ने ही,
मानो विभो! त्रिजगती-तल छा दिया है ॥२७॥

अन्वयार्थ :

भगवन् —	हे भगवन्! आप
अभितः —	चारो ओर
माणिक्य —	माणिक्य
हेम —	सुवर्ण
रजत —	और चॉंदी से
प्रविनिर्मितेन —	बने हुए
सालत्रयेण —	तीन कोटो से
विभासि —	सुशोभित हो रहे है (मानो वे तीन कोट)
कान्ति —	(आपकी) कान्ति
प्रताप —	प्रताप
यशसाम् —	और यश के
संचयेन —	समूह है
स्वेन —	भरे हुए
जगत्त्रय —	तीनो जगत (के कारण)
पिण्डितेन —	पिण्ड रूप हो गए है।
इव —	इस प्रकार सुशोभित होते हैं।

भावार्थ : हे भगवन्! आप अपने चारों ओर के माणिक्य, सुवर्ण और रजत से बने हुए तीन कोटो से बहुत ही सुन्दर मालूम होते है।

ये तीन कोट क्या है। मानो आपके शरीर की कान्ति, आपका प्रताप और आपका यश ही तीनो जगत् मे सर्वत्र फैलने के बाद आगे स्थान न मिलने के कारण आपके चारो ओर तीन कोट के रूप मे पिण्डीभूत हो गया है, अर्थात् इकट्ठा हो गया है।



दिव्य-स्रजो जिन! नमत्-त्रिदशाधिपाना-
मुत्सृज्य रत्नरचितानपि मौलिबन्धान्।
पादौ श्रयन्ति भवतो यदि वाऽपरत्र,
त्वत्संगमे सुमनसो न रमन्त एव ॥२८॥

हिन्दी पद्य : देव प्रणाम करते तव दिव्यमाला,
रत्नों जड़े मुकुट को, तज के उन्हों के।
तेरा पदाश्रय करें, रमते नही हैं-
अन्यत्र या सुमन पाकर संग तेरा ॥२८॥

अन्वयार्थ :

जिन —	हे जिनेन्द्र।
दिव्यस्त्रजः —	दिव्य पुष्पों की मालाएं
नमत् त्रिदशाधिपानाम् —	आपके चरणों में नमस्कार करते हुए देवेन्द्रों के
रत्नरचितानपि —	रत्न-जड़ित
मौलिबन्धान् —	मुकुटों के वन्धनों को
उत्सृज्य —	छोड़कर
भवतः —	आपके
पादौ —	चरणों का
श्रयन्ति —	आश्रय लेती हैं।
यदि वा —	ठीक ही है।
त्वत्संगमे —	क्योकि आपका सम्पर्क होने पर
सुमनसः —	पुष्पमालाएं या उत्तम हृदय वाले मनुष्य
परत्र —	अन्यत्र

न एव रमन्ते —	नही रमते है अर्थात् उनका चित्त अन्यत्र नही लगता है।

भावार्थ : हे नाथ। जब देवराज इन्द्र आपको नमस्कार करते हैं, तब उनकी दिव्य पुष्पमालाए रत्नजटित मुकुटो का भी परित्याग कर झटपट आपके श्रीचरणों का आश्रय ले लेती है।

यह उचित ही है, क्योकि आपके श्रीचरणो का आश्रय मिल जाने के पश्चात् सुमनो (अच्छे मन वाले-ज्ञानी पुरुपो) को अन्यत्र कही पर सन्तोप ही नही मिलता।



त्वं नाथ। जन्मजलधे-र्विपराङ्मुखोऽपि,
यत्तारयस्यसुमतो जिन-पृष्ठलग्नान्।
युक्त हि, पार्थिव-निपस्य सतस्तवैव,
चित्रं विभो! यदसि कर्म-विपाक शून्यः ॥२९॥

हिन्दी पद्य : हे नाथ। तू विमुख जन्म-समुद्र से हो,
पीछे पड़े मनुज के गण को तिराता।
है योग्य बात तुझ पार्थिव को अहो पै,
तू है प्रभो। सकल कर्म-विपाक-शून्य ॥२९॥

अन्वयार्थ :

नाथ —	हे नाथ।
त्वम् —	आप
जन्म —	ससार रूप
जलधेः —	समुद्र से
विपराङ्मुखः अपि —	विमुख है, फिर भी
यत् —	आप
निज —	अपने

पृष्ठलग्नान् —	पृष्ठाश्रित-अनुयायी भव्य
असुमतः —	जीवो को
पार्थिवनिपस्य सतस्तवैव—	पके हुए घड़े के समान
तारयसि —	पार उतार देते हैं
युक्तम् हि —	यह उचित ही है, किन्तु
विभो —	हे प्रभो!
चित्रम् —	आश्चर्य है
यत् —	क्योंकि (कि आप)
कर्मविपाक —	कर्मो के विपाक से
शून्यः असि —	शून्य हैं।

भावार्थ : हे नाथ! संसार समुद्र से सर्वथा पराङ्मुख-प्रतिकूल होते हुए भी आप अपने अनुयायी भक्तों को पार उतार देते है, यह युक्त ही है, क्योंकि आप पार्थिव अर्थात् समस्त पृथ्वी के स्वामी है अथवा पार्थिवनिप (मिट्टी के घड़े) का स्वभाव ही ऐसा है कि वह जल की ओर अधोमुख रहकर भी अपनी पीठ पर ठहरे हुओं को पार उतार देता है।

परन्तु इसमें एक महान् आश्चर्य है। वह यहकि पार्थिवनिप (घडा) तो विपाक सहित होता है और आप कर्मविपाक से रहित हैं।



विश्वेश्वरोऽपि जन-पालक! दुर्गतस्त्वं
किं वाक्षर-प्रकृतिरप्यलिपिस्त्वमीश!
अज्ञानवत्यपि सदैव कथञ्चिदेव,
ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्व-विकास-हेतुः ॥३०॥

हिन्दी पद्य : विश्वेश है तदपि दुर्गत नाथ! है तू,
है अक्षर प्रकृति भी अलिपि प्रभो! तू।

अज्ञान है कुछ तथापि फुरे सदा ही,
सुज्ञान नाथ! तुझ में जग का विकासी ॥३०॥

अन्वयार्थ :	जनपालक —	हे जगदीश्वर!
	त्वम् —	आप
	विश्वेश्वर —	तीन लोक के नाथ होकर
	अपि —	भी
	दुर्गतः —	दुर्गत है, दरिद्र है, अथवा आप को प्राप्त करना दुर्लभ है।
	किम् वा —	और
	अक्षर —	अक्षर
	प्रकृतिः —	स्वभाव वाले होने पर
	अपि —	भी
	त्वम् —	आप
	अलिपिः —	लिपि रूप नहीं है, अर्थात् लेखन स्वभाव और कर्मलेप से रहित है।
	ईश! —	हे स्वामिन्!
	अज्ञानवति —	अज्ञानवत्-अज्ञप्राणियों के संरक्षक हैं
	कथंचित् त्वयि इव —	तथापि आपमे इस प्रकार
	विश्वविकासहेतु —	तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाला
	ज्ञानम् —	केवलज्ञान
	सदैव —	हमेशा
	स्फुरति —	प्रकाशमान रहता है।

भावार्थ : इस श्लोक मे विरोधाभास अलंकार द्वारा स्तुति की गई है। विरोधाभास अलंकार मे शब्द को सुनते समय तो विरोध मालूम होता है, किन्तु अर्थ को विचारने पर उसका परिहार हो जाता है। स्तोत्रकार कहते हैं-भगवन्! आप विश्वेश्वर होकर भी दुर्गत हैं। यह विरोध है। भला जो सारे विश्व का ईश्वर है, वह दुर्गत अर्थात् दरिद्र कैसे हो सकता है? इसका परिहार श्लेष रूप से यहहै कि दु: अर्थात् दु:ख से, बड़ी कठिनाई से, गत अर्थात् जाने जाते हैं। इसी प्रकार अक्षर प्रकृति अर्थात् अ-क्षर स्वभाव वाले होकर के भी अलिपि अर्थात् लिखे नही जा सकते। यह विरोध है। जो क, ख, ग आदि अक्षर हैं वे तो लिखे जाते हैं। इस विरोध का परिहार यह है कि आप अक्षर अर्थात् अविनश्वर प्रकृति अर्थात् स्वभाव वाले होकर के भी अलिपि अर्थात् आकार रहित-निराकार है, इसी प्रकार 'अज्ञानवति अपि' अर्थात् अज्ञान युक्त होने पर भी आप मे विश्वविकासी ज्ञान कैसे स्फुरायमान हो सकता है? यह विरोध है। इसका परिहार यह है कि-'अज्ञान अवति त्वयि' अर्थात् अज्ञानी प्राणियों की रक्षा करने वाले आप मे, विश्वप्रकाशी ज्ञान सदा स्फुरायमान रहता है।



प्राग्भार-संभृत-नभांसि रजांसि रोषा-
दुत्थापितानी कमठेन शठेन यानि।
छायाऽपि तैस्तव न नाथ! हता हताशो,
ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा ॥३१॥

हिन्दी पद्य : आंधी चलाय रज-शैल उड़ा-उड़ा के
जो क्रोध से कमठ ने नभ छा दिया है।
तेरी न छाँह तक नाथ! छुई इन्होने,
उल्टा उसी कुटिल को घबरा दिया है ॥३१॥

ार्थ : नाथ — हे नाथ।

नाथ —	हे नाथ।
शठेन —	दृष्ट-धूर्त्त
कमठेन —	कमठ के द्वारा
रोषात् —	रोप से अर्थात् पूर्वोपार्जित वैर से
तव —	आप पर
प्राग्भार सम्भृत —	पूर्ण रूप से आकाश से आच्छादित
नभांसि —	करने वाली
यानि —	जो
रजांसि —	धूलि
उत्थापितानि —	उडाई
तैः —	उससे
तव —	आपको
तु —	तो
छाया —	छाया
अपि —	भी
न हता —	मलिन नहीं हुई
परम् —	किन्तु
अयमेव —	वही
दुरात्मा —	दुष्ट कमठ
हताशः —	हताश होकर
अमीभिः —	उस धूलि से
ग्रस्तः —	जकडा गया। अर्थात् मलिन हो गया।

भावार्थ : हे नाथ! दुष्ट कमठ ने क्रुद्ध होकर आप पर पहले ब
भीषण धूलि की वर्षा की, ऐसी वर्षा कि जिसके समूह से समग्र आका
भर गया था। किन्तु उससे आपका कुछ भी न बिगड़ा। और तो क्या, आपक
छाया तक भी मलिन न हुई, प्रत्युत उस धूलि से वह हताश दुरात्मा स्व
ही ग्रस्त हो गया, मलिन हो गया।



यद् गर्जदूर्जित-घनौघमदभ्र-भीम-
भ्रश्यत्तडिन्मुसल-मांसलघोर-धारम्।
दैत्येन मुक्तमथ दुस्तर-वारि दध्रे,
तेनैव तस्य जिन! दुस्तरवारि-कृत्यम् ॥३२॥

हिन्दी पद्य : गर्जे महा कड़क के बिजली पडे त्यों
पानी गिरे भयद मूसलधार होके।
की दुष्ट ने कठिन दुस्तर-वारि-वर्षा,
उसके लिए वह हुई तरवारि-वर्षा ॥३२॥

अन्वयार्थ :

अथ —	तत्पश्चात्
जिन —	हे जिनेश्वर!
दैत्येन —	दैत्य कमठ ने
गर्जदूर्जितघनौघम् —	खूब गर्ज रहे हैं मेघसमूह जिसमें ऐसे
भ्रश्यत्तडित् —	तड़तड़ाती हुई बिजली और
मुसलमांसल —	मूसल के समान मोटी
घोरधारम् —	भारी जलधारा से युक्त
अदभ्रभीमम् —	ऐसा महा भयंकर
यत् —	जो
दुस्तर-वारि —	अथाह जल

मुक्तम् —	वर्षाया, वह
तस्य —	उस कमठ के लिए
एव —	ही
दुस्तरवारि —	तीक्ष्ण तलवार का कार्य हो गया
कृत्यम् दध्रे —	अर्थात् उससे वह कमठ स्वय ही घायल हो गया।

भावार्थ : हे जिनेश्वर देव! कमठ दैत्य ने आपके ऊपर बडी भयकर जलवर्षा की, ऐसी वर्षा कि जिसमे बडे-बड़े विशाल मेघसमूह गर्जन कर रहे थे, बिजलियाँ गिर रही थी और मूसल के समान बड़ी मोटी-मोटी जलधाराएँ बरस रही थी, जो अत्यन्त डरावनी मालूम होती थी और जिनका अथाह जल तैर कर भी पार करना कठिन था।

किन्तु उस वर्षा से आपकी कुछ भी हानि नहीं हुई, प्रत्युत वह उस कमठ के लिए ही तीखी तलवार का काम कर गई, अर्थात् उसका ही विघात करने वाली हुई।



ध्वस्तोर्ध्व-केश-विकृताकृति-मर्त्यमुण्ड-
प्रालम्बभृद्-भयद-वक्त्र, विनिर्यदग्निः।
प्रेतव्रजः प्रति भवन्तमपीरितो यः।
सोऽस्याभवत्प्रतिभव भव-दुःख-हेतु.॥३२॥

हिन्दी पद्य : अंगार को उगलता, नुर-मुण्ड धारे
सूखे कुकेश, विकराल शरीर वाला।
जो पेत-वृन्द तव नाथ! समीपभेजा,
उसको हुआ वह भवो-भव दुःखदायी॥३३॥

अन्वयार्थ :	**ध्वस्तोर्ध्व केश —**	बिखरे हुए केशो वाले,
	विकृत —	विकराल
	आकृति —	आकृति वाले,
	मर्त्य-मुण्डः —	नरमुण्डों की
	प्रालम्बभृद् —	लम्बी-लम्बी मालाओ को धारण करने वाले
	भयद-वक्त्र —	जिनके भयानक मुख से
	विनिर्यदग्निः —	आग निकल रही है,
	यः —	ऐसा जो
	प्रेतव्रजः —	पिशाचो का समूह
	भवन्तम् प्रति —	आपके प्रति
	ईरितः —	प्रेरित किया अर्थात् भेजा
	सः —	वह
	अस्य —	उस दुष्ट असुर को
	प्रतिभवम् —	भव-भव में
	भव-दुःख-हेतु —	सांसारिक दुःखों का कारण
	अभवत् —	हुआ।

भावार्थ : हे भगवन्! दुष्ट कमठासुर ने आपको त्रास देने के लिए अत्यन्त निर्दय पिशाचों के दल भी भेजे। कैसे थे वे पिशाच? जिनके बाल बिखरे या विध्वस्त थे, जो भद्दी आकृति वाले थे, जिनके गले में नरमुण्डो की मालाएं पड़ी हुई थी और जो अपने भयानक मुख से आग उगल रहे थे।

किन्तु हे प्रभो! ऐसे भयंकर पिशाच भी आप पर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सके, प्रत्युत वे उसी कमठ के लिए भव-भव में भयंकर दुःखों के कारण बने।



धन्यास्त एव भुवनाधिप। ये त्रिसन्ध्य-
माराधयन्ति विधिवद् विधुतान्यकृत्याः।
भक्त्योल्लसत्पुलक-पक्ष्मल-देह-देशाः,
पादद्वयं तव विभो। भुवि जन्मभाजः ॥३४॥

हिन्दी पद्य : रोमाच गद् गद् प्रफुल्लित देह होके
आराध तव पदाम्बु की महेश
जो भक्तिपूर्वक करे विधि से त्रिकाल
वे धन्य है जगत मे जन देहधारी ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ :

भुवनाधिप विभो —	हे त्रिलोकीनाथ प्रभो!
भुवि —	ससार में
भक्त्या —	भक्ति से
उल्लसत् पुलकपक्ष्मल—	उल्लासित एवं पुलकित हो रहे है
देहदेशाः —	शरीर के अवयव जिनके ऐसे
ये —	जो
जन्मभाजः —	प्राणी
विधुतान्य कृत्याः —	अन्य कार्यो को छोड़कर
विधिवत् —	विधि पूर्वक
तव —	आपके
पादद्वयम् —	दोनों चरणो की
त्रिसन्ध्यम् —	त्रिकाल
आराधयन्ति —	आराधना करते हैं
त एव —	वे ही
धन्याः —	धन्य हैं

भावार्थ : हे त्रिभुवन के स्वामी! संसार मे वे ही प्राणी धन्य हैं, जिनके शरीर का रोम-रोम आपकी भक्ति के कारण उल्लसित एव पुलकित हो जाता है और दूसरे सब सांसारिक काम छोडकर आपके चरण-कमलो की विधिपूर्वक त्रिकाल उपासना करते है।



अस्मिन्नपाभव-वारिनिधौ मुनीश।
मन्ये न मे श्रवणगोचरतां गतोऽसि।
आकर्णिते तु तव गोत्र-पवित्र-मन्त्रे,
किं वा विपद्-विषधरी सविधं समेति ॥३५ ॥

हिन्दी पद्य : संसार-वारि-निधि में पड के कदाचित्,
मैंने सुना न जगदीश्वर नाम तेरा।
जो नाम-मन्त्र सुनता अति ही पवित्र,
आती विपद् विपधरी किस भांति पास ॥३५ ॥

अन्वयार्थ :

मुनीश! —	हे मुनीन्द्र!
मन्ये —	मै मानता हू
अस्मिन —	इस
अपार —	अपार
भव —	संसार
वारिनिधौ —	सागर मे
त्वम् —	आप
मे —	मेरे
श्रवणगोचरतां —	कर्मगोचर
न गतः असि —	नही हुए (क्योकि)
तव —	आपका
पवित्र —	पवित्र
गोत्र —	नाम रूपी
मन्त्रे —	मन्त्र
आकर्णिते तु —	सुन लेने पर तो

विपद् —	आपत्तिरूप
किं वा —	क्या
सविधं —	समीप
समेति —	आ सकती है? कभी नही।

भावार्थ : हे मुनीन्द्र! इस अपार ससार सागर मे परिभ्रमण करते हुए मुझे अनन्त काल हो गया, परन्तु मालूम होता है, आपका पवित्र नाम कभी भी श्रुतिगोचर नही हुआ।

क्योकि यदि आपके नाम का पवित्र मन्त्र कभी सुनने मे आया होता, तो फिर क्या यह विपत्ति रूपी काली नागिन मेरे पास आती? कभी नही।



जन्मान्तरेऽपि तव पाद-युग न देव!
मन्ये मया महितमीहितदान-दक्षम्।
तेनेह जन्मनि मुनीश! पराभवानां,
जातो निकेतनमहं मथिताशयानाम् ॥३६॥

हिन्दी पद्य : है पूज्य, वाछित फल-प्रद पॉव तेर,
पूजे न पूर्वभव मे भगवान् मैंने।
है बात सत्य, इससे इस जन्म मे मै,
हूं जो पराभव मनोरथ-भंग-पात्र ॥३६॥

अन्वयार्थ :

देव —	हे देव!
मन्ये —	मै मानता हूं
जन्मान्तरे अपि —	जन्मान्तर मे भी
मया —	मैंने
ईहित —	मनोवाछित

दान —	फल देने में
दक्षम् —	समर्थ
तव—	आपके
पादयुगम्—	चरणकमलों को
न—	नहीं
महितम्—	पूजा
तेन—	इस कारण से
इह—	इस
जन्मनि—	जन्म मे
मुनीश—	हे मुनीश !
अहम्—	मैं
मथिताशयानाम्—	हृदयभेदी-मनोरथों को नष्ट करने वा
पराभवानाम्—	पराजयों का
निकेतनम्—	धाम-पात्र
जातः—	बन गया हूँ।

भावार्थ— हे देव ! मै निश्चित रूप से यह समझ गया हूँ f मैंने जन्म-जन्मान्तर मे भी कभी अभीष्ट फल प्रदान करने में पूर्णतया सम आपके चरण-कमलों की उपासना नहीं की।

हे मुनीश ! यही कारण है कि मैं इस जन्म में हृदय को दलन क वाले असह्य पराजयों-तिरस्कारों का केन्द्र बन गया हूँ। आपके चरणों व पुजारी तो कभी भी पराजित नहीं होता।



नूनं न मोह-तिमिरावृत-लोचनेन,
पूर्व विभो ! सकृदपि प्रविलोकितोऽसि।

मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः,
प्रोद्यत् प्रबन्ध-गतयः कथमन्यथैते॥ ३७॥

हिन्दी पद्य : मोहान्धकार-वश लोचन मूँद मैने,
तेरे न दर्शन किये पहले अवश्य।
जो बात है न यह तो फिर क्यों सताते,
ये मर्म-वेधक अखण्ड अनर्थ आके॥ ३७॥

अन्वयार्थ :

विभो—	हे प्रभो !
मोह—	मोह रूप
तिमिर—	अन्धकार से
आवृत—	आच्छादित है
लोचनेन—	नेत्र जिसके, ऐसे मैंने
पूर्वम्—	पहले
नूनम्—	निश्चय से
सकृदपि—	एक बार भी
न प्रविलोकितः असि—	आपके दर्शन नहीं किये
अन्यथा—	यदि किये होते तो
प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः—	जिनकी प्रबन्ध गति अतिशय बलवती है ऐसे
एते—	ये
मर्माविधः—	हृदयभेदी
अनर्थाः—	अनर्थ
माम्—	मुझको
कथम्—	क्यो
विधुरयन्ति—	सताते ?

भावार्थ— हे प्रभो ! मेरी ऑखों पर मिथ्यात्व-मोह का गहरा अन्धेरा छाया रहा, फलतः मैंने पहले कभी एक वार भी आपके दर्शन नहीं किये।

यदि एक बार भी आपके दर्शन किये होते तो अत्यन्त तीव्र गति से विस्तार पाने वाले ये मर्म-भेदी अनर्थ क्यों पीड़ित करते। आपका भक्त और अनर्थ ? इन दोनो का मेल ही नही वैठता।



आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जन-वा[illegible] दुःख-पात्रं,
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलान्ति न भाव-शून्याः॥ ३८॥

हिन्दी पद्य : मैंने सुदर्शन किये, गुण भी सुने, की—
पूजा, तथापि हिय में न तुझे बिठाया।
हूँ दुःख-पात्र,, जन-वान्धव ! मैंने इसी से,
होती नहीं सफल भाव बिना क्रियाएँ॥ ३८॥

अन्वयार्थ :

जनबान्धव—	हे जगतबन्धु ! यदि
आकर्णितोऽपि—	मैंने आपका नाम भी सुना हो
महितोऽपि—	आपका पूजन भी किया हो
निरीक्षितोऽपि—	आपके दर्शन भी किये हो किन्तु
नूनम्—	निश्चय ही
मया—	मैंने
भक्त्या—	भक्ति से
चेतसि—	हृदय मे
न विधृतः असि—	आपको धारण नहीं किया

तेन—	इसी कारण से मै
दुःखपात्रम्—	दु:ख का पात्र
जातः अस्मि—	हो रहा हूँ
यस्मात्—	क्योंकि
भाव-शून्याः—	भाव-रहित
क्रियाः—	क्रियाएँ
न प्रतिफलन्ति—	सफल नहीं होती है।

भावार्थ— हे जगत् के एक मात्र सहायक बन्धु भगवन् । मैने यथावसर आपका पवित्र नाम भी सुना, उपासना भी की और दर्शन भी किये—बाह्य दृष्टि से सब कुछ किया, किन्तु भक्तिभाव पूर्वक कभी भी आपको अपने हृदय मे धारण नही किया।

यही कारण है कि आज मै अनेकानेक भयंकर दु:खो का पात्र बन रहा हूँ। प्रभु के दर्शन होने के बाद भो दु:ख क्यों ? इसलिए कि भावना-रहित क्रियाएँ सफल नही होतीं।



त्व नाथ । दु:खि-जन-वत्सल । हे शरण्य,
कारुण्य-पुण्यवसते । वशिनां वरेण्य ।
भक्त्या नते मयि महेश दयां विधाय,
दु:खाकुरोद्दलन-तत्परता विधेहि॥ ३९॥

हिन्दी पद्य : हे दीनबन्धू । करुणाकर । हे शरण्य,
स्वामिन् । जितेन्द्रिय । वरेण्य । सुपुण्यधाम ।
हूँ भक्ति से प्रणत मै, करके दया तू,
हे नाथ । नाश कर दे सब दु:ख मेरे॥ ३९॥

अन्वयार्थ : नाथ—	हे नाथ !
हे शरण्य—	हे शरणागत-प्रतिपाल !
दुःखिजन—	दुःखी जनों पर
वत्सल—	वात्सल्य धारण करने वाले ।
कारुण्यपुण्यवसते—	हे परम करुणानिधान ।
वशिनां वरेण्य—	हे योगियों के ईश्वर ।
महेश—	हे महेश्वर !
त्वं—	आप
भक्त्या—	भक्ति से
नते—	विनम्र हुए
मयि—	मुझ पर
दयां विधाय—	दया करके
दुःख—	मेरं दुःखों के
अंकुरोद्दलन—	अंकुर का नाश करने मे
तत्परताम्—	तत्परता
विधेहि—	कीजिए।

भावार्थ— हे नाथ ! आप दुःखी जीवों के प्रति वत्सल हैं, शरणागतो के प्रतिपालक है, करुणा के निधान हैं और जितेन्द्रिय पुरुपो मे श्रेष्ठ हैं।

हे महेश ! भक्ति-भाव के कारण विनम्र हुए मुझ सेवक पर अपनी दयादृष्टि कीजिए और इस दुःख की जड़ (राग-द्वेप आदि विकारों) को उखाड़ने में तत्परता दिखाइये।



निःसंख्यसार-शरणं शरणं शरण्य—
मासाद्य सादित-रिपु-प्रथितावदातम्।
त्वत्पाद-पकजमपि प्रणिधान-वन्ध्यो,
वन्ध्योऽस्मि चेद् भुवन-पावन ! हा हतोऽस्मि ॥ ४० ॥

हिन्दी पद्य : महात्म्यवान, शरणागत-शान्ति-दायी
शत्रु-प्रणाशकर, है तव पाद-पद्म।
पाके उन्हे सफल जो न हुआ प्रभो, तो
हे लोक-पावन ! मुनीश्वर ! हा मरा मैं ॥ ४० ॥

अन्वयार्थ :

भुवनपावन—	हे तीन लोक को पवित्र करने वाले
निःसख्य सार शरणम्—	मित्र बन्धु के अभाव मे प्रधानता से आश्रय देने वाले
शरणम्—	रक्षा करने वाले
शरण्यम्—	शरणागत का प्रतिपालन करने वाले
सादितरिपु—	अष्ट कर्म रूपी शत्रुओ को नष्ट करके
प्रथितावदातम्—	अपनी कीर्ति विख्यात करने वाले
त्वत्पादपङ्कजम्—	आपके चरण कमलो को
आसाद्य अपि—	पाकर भी
चेत्—	यदि
प्रणिधानवन्ध्यः—	उनका ध्यान नहीं किया तो
वन्ध्यः अस्मि—	मै अभागा फलहीन हूँ
हा हतः अस्मि—	हाय ! मैं मारा गया।

भावार्थ— हे भुवन-पावन ! आपके चरण-कमल अतुल बल के स्थान है, दु:खित जनों की रक्षा करने वाले है, शरणागतों के प्रतिपालक है और कर्मशत्रुओं को नष्ट करने के कारण विश्व-विख्यात यश वाले है। किन्तु आपके ऐसे मङ्गलमय चरणों का अवलम्बन पाकर भी यदि मैं उनके ध्यान से वंचित रहा, तो अभागा फलहीन ही रहा। भगवन् ! खेद है कि मैं आपके चरण-कमलों को पाकर भी उनके ध्यान से रहित होने के कारण कर्मो के द्वारा मारा जा रहा हूँ।



देवेन्द्र-वन्द्य ! विदिताखिल-वस्तु-सार,
संसार-तारक विभो भुवनाधिनाथ।
त्रायस्व देव करुणाहृद ! मां पुनीहि,
सीदन्तमद्य भयद-व्यसनाम्बुराशेः॥ ४१ ॥

हिन्दी पद्य : सर्वज्ञ देव ! सुर-नायक ! पूजनीय,
संसार-तारक ! विभो ! भुवनाधिनाथ !
मैं हूँ दयाधन ! दु:खी मुझको बचाओ,
ससार से, कर पवित्र मुझे तरा दो॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ :

देवेन्द्रवन्द्य—	देवेन्द्रो द्वारा वन्दनीय !
विदिताखिल वस्तुसार—	समस्त पदार्थो के तत्त्व को जानने वाले !
संसारतारक—	संसार सागर से पार उतारने वाले !
विभो—	हे प्रभो !
भुवनाधिनाथ—	हे त्रिलोकी नाथ !
करुणाहृद—	हे दया के सरोवर !

देव—	हे देव ।
अद्य—	आज—अब
माम्—	मुझ
सीदन्तम्—	दुःखिया को
भयदव्यसन—	भयंकर दुःखरूपी
अम्बुराशेः—	सागर से
त्रायस्व—	बचाओ
पुनीहि—	पवित्र करो।

भावार्थ— हे प्रभो । आप स्वर्गाधिपति इन्द्रो द्वारा वन्दनीय सब पदार्थो के रहस्य को जानने वाले हैं, संसार सागर से पार उतारने वाले हैं तीन लोक के नाथ है। हे करुणा के सरोवर देव । भयंकर संकटो के सागर मे डूबने से मेरी रक्षा कीजिए, मुझे पवित्र बनाइए।



यद्यस्ति नाथ । भवदङ्घ्रिसरोरुहाणां,
भक्तेः फलं किमपि सन्तत-सचितायाः।
तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्य । भूयाः,
स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि॥ ४२॥

हिन्दी पद्य : मैंने विभो । सतत की तव पाद-भक्ति,
एकत्र होय उसका फल जो जरा भी।
है प्रार्थना बस यही, इस लोक मे क्या,
क्या अन्य लोक-बिच हो मम नाथ तू ही॥ ४२॥

अन्वयार्थ :

नाथ—	हे नाथ ।
त्वदेक—	एक मात्र आप ही हैं

शरणस्य—	शरण जिसको ऐसे
मे—	मुझे
सन्तत सञ्चिताया—	निरन्तर सचित की हुई
भवद्—	आपके
अंघ्रि सरोरुहाणाम्—	चरण कमलो की
भक्तेः—	भक्ति का
यदि—	यदि
किमपि—	कुछ भी
फलं—	फल
अस्ति तत्—	है तो
शरण्य—	हे आश्रयदायक! (वह, यही हो कि)
त्वमेव—	आप ही
अत्र—	इसी
भुवने—	संसार में
भवान्तरेऽपि—	परलोक में भी
स्वामी—	मेरे स्वामी
भयाः—	हों।

भावार्थ— हे नाथ ! मैं एक अतीव निम्न श्रेणी का भक्त हूँ, मेरी भक्ति ही क्या है? फिर भी आपके चरण-कमलों की निरन्तर से संचित की हुई भक्ति का यदि कुछ भी फल हो, तो हे शरणागत-वत्सल ! जन्म-जन्मान्तर में आप ही मेरे स्वामी बनें। मुझे आपकी भक्ति का यही फल अपेक्षित है, और कुछ भी नही।



इत्थं समाहित-धियो विधिवज्जिनेन्द्र !
सान्द्रोलसत्पुलक-कञ्चुकिताङ्गभागाः।
त्वद्बिम्बनिर्मल-मुखाम्बुज-बद्धलक्ष्या
ये संस्तवं तव विभो ! रचयन्ति भव्याः॥ ४३॥

हिन्दी पद्य : आनन्द मे पुलक, गद्-गद् कण्ठ होके
तेरे मुखाब्ज पर ऑख लगा अनोखी।
जो चित्त को स्थिर किये विधि से महेश
सप्रेम यो स्तव रचे तव भव्य जीव॥ ४३॥

अन्वयार्थ :	**जिनेन्द्र—**	हे जिनेन्द्र !
	ये—	जो
	समाहित—	सावधान
	धियः—	बुद्धि वाले
	भव्याः—	भव्य प्राणी
	त्वद्—	आपके
	बिम्बनिर्मल—	निर्मल
	मुखाम्बुज—	मुख-कमल की ओर
	बद्धलक्ष्या—	अपलक लक्ष्य करके
	सान्द्र—	सघन रूप से
	उल्लसत्—	उठे हुए
	पुलक—	रोमांचो से
	कञ्चुकित—	व्याप्त
	अङ्गभागाः—	अंगों वाले होकर
	विभो—	हे प्रभो !
	तव—	आपकी

इत्थं—	इस प्रकार
विधिवत्—	विधिपूर्वक
संस्तवम्—	स्तुति
रचयन्ति—	रचते हैं (अर्थात् बनाकर पढ़ते हं।)

भावार्थ— हे जिनेन्द्र देव ! अटल श्रद्धा के द्वारा स्थिर बुद्धि वाले, प्रेमाधिक्य के कारण अतीव सघन-रूप से उल्लसित हुए रोमांचो से व्याप्त अंग वाले तथा निरन्तर आपके मुख कमल की ओर अपलक लक्ष्य रखने वाले जो भव्य प्राणी आपकी विधिपूर्वक स्तुति करते हैं—आपका गुणानुवाद करते हैं—



जन- नयन- कुमुद- चन्द्र !
प्रभास्वराः स्वर्ग-सम्पदो भुक्त्वा।
ते विगलित-मल-निचया
अचिरान्मोक्षं प्रपद्यन्ते ॥ ४४ ॥

हिन्दी पद्य : जन-नेक्ष कुमुद-चन्द्र ! प्रभो !
सभी स्वर्ग-सम्पदा नीकी।
भोगे वे फिर जल्दी निर्मल
हो मोक्ष को पावें ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ :

जन—	प्राणियों के
नयन—	नेत्र रूपी
कुमुद—	कुमुदो को
चन्द्र—	चन्द्रमा की तरह प्रकाशित करने वाले प्रभो !

ते—	वे (भक्तजन)
प्रभास्वराः—	देदीप्यमान
स्वर्ग—	स्वर्ग लोक की
सम्पदो—	विभूतियों को
भुक्त्वा—	भोगकर
विगलित—	दूर किया है अष्ट कर्मरूप
मल—	मल के
निचयाः—	समूह को जिन्होंने, ऐसे होकर
अचिरात्—	शीघ्र ही
मोक्ष—	मुक्ति को
प्रपद्यन्ते—	प्राप्त करते हैं

भावार्थ— हे भक्त जनता के नेत्र रूपी कुमुदों को विकसित करने वाले विमल चन्द्र । वे (पूर्व कथित भव्य जन) अत्यन्त रमणीय स्वर्ग सम्पदाओं को भोग कर, अन्त में कर्म मल से रहित होकर शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं।



चिन्तामणि पार्श्वनाथ स्तोत्र

किं कर्पूर-मयं सुधारसमयं किं चन्द्ररोचिर्मयं,
किं लावण्यमयं महामणिमयं कारुण्यकेलीमयम्।
विश्वानन्दमयं महोदयमयं शोभामयं चिन्मयं,
शुक्लध्यानमयं वपुर्जिनपतेर्भूयाद् भवालम्बनम्॥ १ ॥

हिन्दी पद्य :

क्या कर्पूरमयी सुधारसमयी, या चन्द्रकिरणोंमयी ?
क्या लावण्यमयी महामणिमयी, कारुण्यकेलीमयी ?
विश्वानन्दमयी महोदयमयी शोभामयी चिन्मयी ?
शुक्लध्यानमयी प्रभो तव तनु होवे भवालम्बनी॥ १ ॥

अन्वयार्थ :

जिनपतेः—	जिनेन्द्र देव का
वपुः—	शरीर
किम् कर्पूरमयम् ?—	क्या कर्पूरमय है ?
(किम्) सुधारसमयम् ?—	क्या अमृतरसमय है ?
किम्—	क्या
चन्द्र-रोचिर्मयम् ?—	चन्द्र किरणमय है ?
किम् लावण्यमयम् ?—	क्या सौन्दर्यमय है ?
महामणिमयम्—	क्या महामणिमय है ?
कारुण्य-केलीमयम्—	क्या करुणा-केलीमय है ?
विश्वानन्दमयम्—	क्या विश्व के समस्त आनन्दमय है ?

महोदयमयम्—	कैसा महान् अभ्युदय वाला है,
शोभामयम्—	कैसा शोभामय है,
चिन्मयम्—	कैसा चैतन्यमय है,
शुक्ल-ध्यानमयम्—	कैसा शुक्लध्यानमय है,
भवालम्बनम्—	यह मेरे लिए संसार मे आलम्बनरूप
भूयात्—	हो।

भावार्थ— श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ का कर्पूर के समान श्वेत रक्त और सुगन्ध वाला, अमृत के समान सुख-दायक, चन्द्र-किरण के समान शीतल, अत्यन्त सौन्दर्य-युक्त, महामूल्यवान मणि के सदृश आभा वाला, अतीव करुणाशाली, संसार को आनन्द देने वाला, सर्वशोभा-सम्पन्न, शुद्ध चैतन्यरूप शुक्लध्यानमय यह शरीर स्वरूप इस ससार मे मेरे लिए शरणदाता हो।



पातालं कलयन् धरां धवलयन्नाकाशमापूरयन्,
दिक्चक्र क्रमयन् सुरासुरनरश्रेणिं च विस्मापयन्।
ब्रह्माण्डं सुखयन् जलानि जलधेः फेनच्छलाल्लोलयन्,
श्री चिन्तामणि-पार्श्वसभवयशो-हसश्चिरं राजते॥ २॥

हिन्दी पद्य : पाताल भूतल नभस्तल व्याप्त करता,
दिक् चक्र औ नर-सुरासुर को छकाता।
ब्रह्माण्ड को सुखित, वारिधि श्वेत करता,
श्री पार्श्व-सम्भवयशो वर हस भाता॥ २॥

अन्वयार्थ : **पातालम्—** पाताल को

कलयन्—	पूरित करता हुआ,
धराम्—	भूतल को
धवलयन्—	धवल करता हुआ,
आकाशम्—	आकाश को
आपूरयन्—	व्याप्त करता हुआ,
दिक्चक्रम्—	दिङ्मण्डल को
क्रमयन्—	उल्लंघन करता हुआ
सुरासुरनरश्रेणिम्—	देवों, दानवों और मानवों के समूह को
विस्मापयन्—	आश्चर्य-चकित करता हुआ
ब्रह्माण्डम्—	ब्रह्माण्ड को
सुखयन्—	सुखी करता हुआ,
जलधेः—	सागर के
जलानि—	जल को
फेनच्छलात्—	फेनों के बहाने
लोलयत्—	कंपाता हुआ
श्रीचिन्तामणि—	श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ का
पार्श्व-संभवयशोहंसः—	हंस के समान धवल यश
चिरम्—	चिरकाल तक
राजते—	शोभायमान है।

भावार्थ— श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ का यश रूपी हंस अर्थात् हंस के समान धवल—श्वेत यश अपने शब्दों से पाताल को पूरित करता हुआ अपने धवल रूप से भूमण्डल को धवल करता हुआ, अपने विस्तार से आकाश को व्याप्त करता हुआ, अपनी गति के वेग से दशों दिशाओं को

उल्लघन करता हुआ, आश्चर्यजनक कार्यो से देवों, दानवों और मानवो को विस्मित करता हुआ, तीनों लोकों को सुख देता हुआ, फेन के बहाने से समुद्र के जल को अपने प्रभाव से कम्पित करता हुआ चिरकाल तक शोभायमान रहेगा। तात्पर्य यह है कि पार्श्वनाथ प्रभु का यश तीनो लोकों मे सर्वत्र व्याप्त है।



पुण्याना विपणिस्तमोदिनमणिः कामेभकुम्भे सृणिः
मोक्षे निस्सरणिः सुरेन्द्रकरिणी ज्योतिः प्रकाशारणिः।
दाने देवमणिर्नतोत्तमजनश्रेणिः कृपा-सारिणिः,
विश्वानन्दसुधाघृणिभवभिदे श्रीपार्श्वचिन्तामणिः॥ ३॥

हिन्दी पद्य : पुण्य के भण्डार हैं, अज्ञान-तमहर सूर्य है,
काम-गज को वशी करने परम अकुश धूर्य है।
मोक्ष की निःश्रेणिका, सुरवृक्षकारी ज्योति है,
कर्मवन के दहन करने दाव-अग्नि पुनीत है॥
दान मे चिन्तामणि, कारुण्य की है सारिणी,
विश्व को आनन्द-दाता श्री पार्श्व है चिन्तामणि।
चिन्तामणि श्री पार्श्व का चिन्तन करूँ मै दिन-रात,
फिर क्यों न मेरे पाप नाशै, बढै सुख क्यो ना प्रतिक्षण॥ ३॥

अन्वयार्थ : **पुण्यानां विपणिः**— पुण्यो का प्रधान स्थान
तमो-दिन-मणिः— अज्ञानरूप अन्धकार के लिए सूर्य
कामेभ-कुम्भे शृणिः—कामरूपी मत्त गज के लिए अकुश
मोक्षे निस्सरणिः— मोक्ष मे पहुँचने के लिए निःश्रेणी
सुरेन्द्र-करिणीः— देवेन्द्र पद को देने वाले

ज्योतिः प्रकाशारणिः—	ज्योति प्रकाश के लिए अरणि
दाने देव-मणिः—	दान के लिए चिन्तामणि
नतोत्तमजनश्रेणिः—	उत्तम जनों द्वारा प्रणत
कृपा-सारणिः—	दयारूपी धारा की सारणी (नहर)
विश्वानन्द-सुधा-घृणिः—	संसार को आनन्द देने वाले अमृत के प्रवाह रूप
श्री पार्श्वचिन्तामणिः—	श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ
भव-भिदे—	मेरे जन्म-मरण रूप संसार का अन्त करने वाले हो।

भावार्थ— हे भगवन् ! जैसे सर्व प्रकार की वस्तुओं की प्राप्ति का स्थान बाजार होता है, उसी प्रकार पुण्यप्राप्ति के लिए आप ही प्रधान स्थान हैं, जैसे सूर्य अंधकार का नाशक है, उसी प्रकार आप समस्त जीवों के अज्ञान रूपी अन्धकार के विनाशक है, जैसे मदोन्मत्त हाथी को अंकुश वश में रखता है, उसी प्रकार आप काम रूपी मत्त हाथी को वश में रखने के लिए अंकुश के समान हैं, मोक्षरूपी महल में चढ़ने के लिए आप नसैनी के सदृश हैं, आन्तरिक प्रकाश उत्पन्न करने के लिए अरणि नामक काष्ठ के सदृश हैं, चिन्तामणिरत्न के समान सर्व जगत की कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं, तीनों लोकों के उत्तम जनों से वन्दित है, करुणा के एक मात्र स्थान हैं, संसार को आनन्दित करने के लिए अमृत-किरण के तुल्य हैं। ऐसे श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ भगवान् हम सब के जन्म-मरणरूप संसार का विनाश करें।



श्री चिन्तामणि पार्श्व विश्वजनता-संजीवनस्त्वं मया,
दृष्टस्तात ! ततः श्रियः समभवन्नाशक्रमाचक्रिणाम्।

मुक्तिः क्रीडति हस्तयोर्बहुविधं सिद्धं मनोवाञ्छितं,
दुर्दैवं दुरितं च दुर्दिनभयं कष्टं प्रणष्टं मम ॥ ४ ॥

हिन्दी पद्य :

चिन्तामणि चित्-चिन्त्य-दाता, पर न करता आप सम,
पर आप करते भक्त का, उद्धार करके आप-सम।
संजीवनामृत आप हैं, भव-चक्र-नाशक आप ही,
दुर्दैव दुर्दिन कष्ट विनशे फलै वांछित आप ही ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ : तात— हे तात !
श्री चिन्तामणि-पार्श्व !— श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ भगवन् !
त्वम्— आप
मया— मेरे द्वारा
विश्व-जनता-संजीवनः— ससार के प्राणियो के सजीवक
दृष्टः— देखे गये है
ततः— इसलिए
आशक्रम्— इन्द्र से लेकर
आचक्रिणाम्— चक्रवर्ती तक ही
श्रियः— सम्पदाएँ
समभवन्— प्राप्त हुई (और)
मुक्तिः— मुक्ति
हस्तयोः— दोनो हाथो मे
क्रीडति— क्रीडा कर रही है,
मम— मेरे
बहुविधम्— अनेक प्रकार के
मनोवांछितम्— मनोरथ

सिद्धम्—	सिद्ध हुए
दुर्दैवम्—	दुर्दैव
दुरितम्—	दुष्पाप
दुर्दिनम्—	दुर्दिन
भयम्—	भय
च—	और
कष्टम्—	कष्ट
प्रणष्टं—	नष्ट हो गये हैं।

भावार्थ— हे चिन्तामणि पार्श्वनाथ, आप मुझे समस्त प्राणियो के संजीवन रूप में दिखाई दिये हैं, इसलि[illegible] वर्ती से लेकर इन्द्र तक की समस्त सम्पदाएँ मुझे प्राप्त हुई और आपके दर्शनमात्र से मुक्ति हाथों में क्रीडा करने लगी। मेरे सभी मनोरथ सफल हो गये हैं और मेरे सभी दुर्दैव, पाप, दुर्दिन, भय और कष्ट नष्ट हो गये हैं।



यस्य प्रौढतम–प्रतापतपनः प्रोद्दामधामा जगज्—
जङ्घालः कलि–काल–केलि–दलनो मोहान्ध–विध्वंसकः।
नित्योद्योत–पदं समस्त–कमला–केली–गृहं राजते,
स श्रीपार्श्वजिनो जने हितकरश्चिन्तामणिः पातु माम्॥ ५॥

हिन्दी पद्य :

जिनका प्रताप अतुल्य है, अनुपम प्रभा के धाम है,
कलि–काल–केलि–विनाश–कर्ता मोह–नाशक धाम हैं।
जो नित्य है, उद्योतकर्ता, परम कमला–धाम है,
श्री पार्श्व जिन है जग–हितैपी कल्पवृक्ष समान हैं॥ ५॥

अन्वयार्थ :

यस्य—	जिनका
प्रौढतम-प्रताप-तपनः—	अत्यन्त प्रौढ प्रतापरूप सूर्य
प्रोद्दाम-धामा—	अत्यन्त प्रखर तेज वाल
जगज्जङ्घालः—	समस्त जगत् को उल्लघन करने वाला
कलि-काल-केलि-दलनः—	कलिकाल की क्रीडा का दलन करने वाला
मोहान्ध-विध्वंसकः—	मोहान्धकार का विध्वसक है
नित्योद्योत-पदम्—	जो नित्य प्रकाश का धाम है
समस्त कमला-केलि—	समस्त सम्पदाओ की क्रीडा का
गृहम्—	गृह स्वरूप
राजते—	शोभायमान हो रहा है
सः—	वे
जने—	प्राणियों के
हितकरः—	हित करने वाले
चिन्तामणिः—	चिन्तामणि
श्रीपार्श्वजिनः—	श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्र
माम्—	मेरी
पातुः—	रक्षा करें।

भावार्थ— जिनका अत्यन्त प्रतापरूपी सूर्य जीवो के अज्ञानरूप अन्धकार का नाशक है, अत्यन्त प्रखर तेजवाला है, सम्पूर्ण लोक को भी लॉघने वाला है, कलिकाल की लीला का दलन करने वाला है और मोहान्धकार का विध्वंसक है, नित्य प्रकाशमय है, तथा कमला (लक्ष्मी) के कीडागृह के समान शोभायमान है, वे प्राणिमात्र के कल्याणकारी भगवान् पार्श्वनाथ मेरी रक्षा करें।

विश्वव्यापितमो हिनस्ति तरणिर्बालोपि कल्पांकुरो,
दारिद्र्याणि गजावलीं हरि-शिशुः काष्ठानि वह्नः कणः।
पीयूषस्य लवोऽपि रोग-निवहं यद्धत्तथा ते विभो,
मूर्तिः स्फूर्तिमती-सती त्रिजगती-कष्टानि हर्तुं क्षमा॥ ६॥

हिन्दी पद्य :

वाल रवि है अन्ध हरता, विश्वव्यापि क्यों न हो ?
द्रारिद्र को हरता सदा कल्पद्रु-अंकुर क्यों न हो ?
सिंह-शिशु गज-पंक्ति भेदे, अग्नि-कण जंगल जलावे,
पीयूप-लव भी रोग नाशे, अमर जन को वह वनावे॥
त्यों ही प्रभ तेरी विमल मुद्रा परम सुख-दायिनी,
तीन जग के कष्ट हरती, शान्ति दे मन-भाविनी।
क्या करूँ वर्णन विभो, आता समझ में कुछ नहीं,
तुम नाम का बस स्मरण करता रात-दिन मैं सब कहीं॥ ६॥

अन्वयार्थ :

विभोः—	हे प्रभो !
यद्वत्—	जैसे
बालोऽपि—	उदित होता हुआ वाल
तरणिः—	सूर्य भी
विश्व-व्यापि—	विश्व-व्यापी
तमः—	अन्धकार को,
कल्पांकुरः—	कल्पवृक्ष का अंकुर
दारिद्र्याणि—	दरिद्रता को
हरि-शिशुः—	सिंह का वच्चा
गजावलीम्—	हाथियों की पंक्ति को
वह्नेःकणः—	अग्नि का कण

काष्ठानि—	काष्ठों को
पीयूषस्य—	और अमृत की
लवः अपि—	बिन्दु भी
रोग-निवहम्—	रोगों के समूह को,
हिनस्ति—	नष्ट कर देती है
तथा—	उसी प्रकार
ते—	आपकी
स्फूर्तिमती—	देदीप्यमान
सती—	होती हुई
मूर्तिः—	मुख-मुद्रा
त्रि-जगती-कष्टानि—	तीनो लोकों के कष्टों को
हर्तुम्—	हरण करने के लिए
क्षमा—	समर्थ है।

भावार्थ— हे भगवन् ! जैसे उदित होता हुआ बाल सूर्य भी ससार का अन्धकार हरने मे समर्थ है, कल्पवृक्ष का अंकुर भी दरिद्रता को दूर करने में समर्थ है, सिह का शिशु भी गज-समूह को विनष्ट करने मे समर्थ है, अग्नि का एक कण भी काष्ठो को जलाने मे समर्थ है और अमृत की एक बूॅद भी समस्त रोगो को दूर करने मे समर्थ है, उसी प्रकार आपकी तेजोमय मुख-मुद्रा भी तीनो लोको के समस्त कष्टो को विनष्ट करने मे समर्थ है।



श्री चिन्तामणिमन्त्रमोकृति-युत ह्रीकारसाराश्रित,
श्रीमर्हन्नमिऊणपासकलितं त्रैलोक्य-वश्यावहम्।
द्वेधाभूतविषापह विषहरं श्रेयः—प्रभावाश्रय,
सोल्लासं वसहांकितं जिनफुलिगानन्दद देहिनाम्॥ ७॥

हिन्दी पद्य :

ओ ह्री अर्ह युक्त नमि श्री पार्श्व चिन्तामणि प्रभो,
मन्त्र यह त्रैलोक्य वशकर, सर्प-विष-हारी विभो।
सोल्लास व-स-हांकित, प्रभावक सर्वजगदानन्द है,
धारूँ हृदय में भक्ति-युत, शिव-सौख्य का यह कन्द है॥ ७॥

अन्वयार्थ :

ओंकृति-युतम्—	ओकार से युक्त
ह्रींकार-साराश्रितम्—	ह्रींकार इस सारभूत पद से सहित
'श्रीम्', 'अर्हम्',—	'श्री अर्ह नमिऊणपासं', इन पदों से
'नमिऊण', पाश-कलितम्—	संयुक्त उक्त मन्त्र
त्रैलोक्य-वश्यावहम्—	तीनों लोकों को वश करने वाला है,
द्वेधा-भूत-विषापहम्—	त्रस और स्थावर इन दोनो से उत्पन्न विष को दूर करने वाला है,
विष-हरम्—	धातु-जनित विष का नाशक है,
श्रेय:प्रभावाश्रयम्—	कल्याणकारी प्रभाव से युक्त है,
सोल्लासम्—	उल्लासमय है
व-स-ह-अंकितम्—	'व स ह' पद से चिह्नित हैं
देहिनां—	और प्राणियो को
जिन-फुलिंगानन्ददम्—	जिन देव के समान परिपूर्ण आनन्द का देने वाला

श्री चिन्तामणि मन्त्रम् (अस्ति)—यह श्री चिन्तामणि मन्त्र हैं।

भावार्थ— यह श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ मंत्र 'ओंकार' से युक्त है,

'ह्रीं' कार से युक्त है, 'श्री' कार से सम्पन्न है, 'अर्ह' पद से वेष्टित है और 'नमिऊण पास' पद से बद्ध है। यह मन्त्र तीनों लोको को वश करने वाला है, सर्व प्रकार के विषो को दूर करने वाला है, कल्याण का कर्ता हैं, प्रभाव एव यश बढाने वाला है, 'व स ह' इन अक्षरो से युक्त यह मन्त्र सर्व प्रकार की ऋद्धि, सिद्धि और आनन्द को देने वाला है।

तात्पर्य यह है कि 'नमिऊण पास विसहर वसह जिण फुलिंग' यह अठारह अक्षरो का चिन्तामणि मत्र है। इससे पहले 'ॐ ह्री श्री' ये तीन बीजाक्षर जोड़ने से इक्कीस अक्षर हो जाते हैं। प्रस्तुत श्लोक मे इस मंत्र का तथा इसके विधिपूर्वक जाप से प्राप्त होने वाले फल का कथन किया गया है। यह चिन्तामणि मंत्र कहलाता हैं। यह समस्त चिन्ताओ को पूर्ण करने वाला माना जाता है।



ह्रीं श्रीकारवर नमोऽक्षरपरं ध्यायन्ति ये योगिनो,
हृत्पद्मे विनिवेश्य पार्श्वमधिपं चिन्तामणि-सज्ञकम्।
भाले वाम-भुजे च नाभि-करयोर्भूयो भुजे दक्षिणे,
पश्चादष्ट-दलेषु ते शिव-पद द्वित्रैर्भवैर्यान्त्यिहो॥ ८॥

हिन्दी पद्य :

'ह्री श्री नमः' यह मन्त्र पावन, ध्यान करते योगी जे,
चिन्तामणि श्री पार्श्व का हृत्पद्म मे नित भव्य जे।
भाल मे, या भुज-युगल मे नाभि मे, या हस्त-युग मे,
दो-तीन भव मे नियम से वे भव्य जाते मोक्ष मे॥ ८॥

अन्वयार्थ : ह्रीं-श्रीं-कार-वरम्— ह्री श्रीकार मे श्रेष्ठ
नमोऽक्षर— नमः अक्षर जिसके अन्त मे है

चिन्तामणि-संज्ञकम्—	ऐसे चिन्तामणि नाम वाले
अधिपम्—	स्वामी
पार्श्वम्—	पार्श्वनाथ को
हृत्पद्मे—	हृदय-कमल में
भाले—	मस्तक-भाल मे
वाम-भुजे—	वामभुजा में
नाभि-करयोः—	नाभि मे, दोनों हाथों मे
च भूयः—	और
दक्षिणे—	दक्षिण
भुजे—	भुजा में
पश्चात्—	तत्पश्चात्
अष्ट-दलेषु—	अष्ट पत्र वाले कमल में
विनिवेश्य—	स्थापित करके
ये—	जो
योगिनः—	योगीजन
ध्यायन्ति—	ध्यान करते हैं
ते—	वे
अहो—	आश्चर्य है कि
द्वि-त्रैः—	दो-तीन
भवैः—	भवो के द्वारा ही
शिव-पदम्—	शिव पद को
यान्ति—	प्राप्त होते हैं।

भावार्थ— जो योगीजन 'ॐ ह्रीं श्रीं चिन्तामणि पार्श्वनाथाय नमः' इस मन्त्र को हृदय कमल मे, या मस्तिष्क में या दाहिनी भुजा में, या बायीं

भुजा में या नाभि में, या दोनों हाथो में अष्ट-दल कमल रूप मे स्थापित करके ध्यान करते हैं, वे दो-तीन भव मे ही मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं।



नो रोगा नैव शोका, न कलह-कलना, नारि-मारि-प्रचाराः।
नैवाधिर्नासमाधि र्न च दर-दुरिते, दुष्ट-दारिद्रता नो।
नो शाकिन्यो ग्रहा नो, न हरि-करि-गणाः व्याल-वेताल-जालाः।
जायन्ते पार्श्वचिन्ता-मणि-नति-वशतः, प्राणिनां भक्ति-भाजाम्॥ ९॥

हिन्दी पद्य :

नहि रोग हो, नहिं शोक हो, नहिं कलह-कलना कोई हो,
अरि मारि हो ना, व्याधि-भय हो, ईति भीति न कोई हो।
ग्रह शाकिनी डाकिनी पिशाचिनी, व्याल वेतालादि भी,
चिन्तामणि श्री पार्श्वजिनके नाम से भागें सभी॥ ९॥

अन्वयार्थ :	**भक्ति-भाजाम्—**	भक्तिमान्
	प्राणिनाम्—	प्राणियो के
	पार्श्वचिन्तामणि—	श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ को
	नतिवशतः—	नमस्कार करने से
	नो रोगाः—	न रोग होते हैं
	न एव शोकाः—	न ही शोक होते हैं
	न कलह-कलना—	न कलह-युद्ध होते हैं
	न अरि-मारि प्रचाराः—	न अरि या मरी का प्रचार होता है
	न एव आधिः—	न आधि (मानसिक पीडा) होती है
	न असमाधिः—	न असमाधि होती है
	न च दर-दुरिते—	न भय-संकट होते हें

नो दुष्ट-दारिद्रता—	न दुष्ट दरिद्रता होती है
नो शाकिन्यः—	न शाकिनी डाकिनी
नो ग्रहाः—	न ग्रह
न हरि-करिगणाः—	न सिंह, गज समूह (और)
व्याल-बेताल जालाः—	साँप वेताल आदि ही उपद्रव करने वाले
जायते—	होते हैं

भावार्थ— जो पुरुष चिन्तामणि पार्श्वनाथ को भक्तिभाव से नमस्कार करते हैं, उनको रोग, कलह, शत्रु, ईति-भीति व्याधियाँ आधियाँ चित्तविक्षेप, भय, संकट, दरिद्रता आदि नहीं प्राप्त होते हैं। उन्हें ग्रह-बाधा, भूत, प्रेत, वेताल आदि का उपद्रव या सिंह, गज सर्पादि का कभी कोई भय नहीं होता है।



गीर्वाण-द्रुम धेनु-कुम्भ-मणयस्तस्यांगणे रिङ्गिणो,
देवाः दानव-मानवाः सविनयं तस्मै हितं ध्यायिनः।
लक्ष्मीस्तस्य वशाऽवशेव गुणिनां ब्रह्माण्ड-संस्थायिनी,
श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथमनिशं संस्तौति यो ध्यायति॥ १०॥

हिन्दी पद्य :

श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ जिनको, ध्याते सदा भक्ति से।
सो चिन्तामणि, काम-गौ, सुर-तरु तिहिं घरे विलसे सदा भक्ति से।
हो लक्ष्मी उसके अधीन मुनिजन, सेवे सदा चाव से,
होवे प्राप्त समस्त सम्पद् उसे, लोकत्रयी भाव से॥ १०॥

अन्वयार्थ : यः—	जो पुरुप

श्री चिन्तामणि-पार्श्वम्— श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ की
अनिशम्— निरन्तर
संस्तौति— स्तुति करता है
ध्यायति— ध्यान करता है
तस्य— उसके
अङ्गणे— ऑगन मे
गीर्वाण-द्रुम-धेनु-कुम्भ— कल्पवृक्ष, कामधेनु, कामकुम्भ
मणयः— चिन्तामणि रत्न
रिङ्गिणाः— क्रीडा करते हैं
तस्मै— उसके लिए
देवाः— देव
दानव-मानवाः— दानव और मानव
सविनयम्— सविनय
हितम्— हित के
ध्यायिनः— चिन्तन करने वाले होते हैं
तस्य— उसके
ब्रह्माण्ड-संस्थायिनी— ब्रह्माण्ड मे रहने वाली
गुणिनां वशा— गुणीजनों के वशीभूत
लक्ष्मीः— लक्ष्मी
अवशा इव (जायते)— विवश-सी होकर (प्राप्त होती है)

भावार्थ— जो पुरुष श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ की सदा भक्ति-भाव से स्तुति करता है, उनका ध्यान करता है, उसके घर के ऑगन मे कल्पवृक्ष, कामधेनु, कामकुम्भ और चिन्तामणि-रत्न निरन्तर क्रीडा करते रहते हैं, अर्थात् सदा विद्यमान रहते हुए उसकी सभी मनोकामनाओं को पूरा करते

रहते हैं। उसकी सभी देव, दानव और मानव हितकामना करते हैं। गुणी जनों के वश में रहने वाली जगत् की लक्ष्मी अवशा-विवश-सी होकर श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ का स्तवन और ध्यान करने वाले पुरुष के अधीन हो जाती है।



इति जिनपति पार्श्वः पार्श्व-पार्श्वाख्ययक्षः,
प्रदलित-दुरितौघः प्रीणितः-प्राणि-सार्थः।
त्रिभुवन-जन-वाञ्छा-दान-चिन्तामणीकः,
शिव-पद-तरुबीजं बोधिबीजं ददातु॥ ११॥

हिन्दी पद्य : इम जिनपति पार्श्व, पास में पार्श्वयक्ष,
दुरित दलित करता, हर्ष दे प्राणि सार्थ।
त्रिभुवन-जन-वांछा पूरते कल्पवृक्ष,
शिव पद-तरु-बीजं बोधि-बीजं मुझे दें॥ ११॥

अन्वयार्थ : इति— इस प्रकार
पार्श्व-पार्श्वाऽख्य-यक्षः— पार्श्व नाम का यक्ष जिनके पार्श्व में है
प्रदलित-दुरितौघः— जो पाप पुंज के विनाशक हैं
प्रीणितः-प्राणि-सार्थः— प्राणी समूह को हर्षोत्पादक हैं
त्रिभुवन-जनवांछा-दान— तीनों लोकों के जनों को इच्छानुसार दान देने में चिन्तामणि रत्न के समान हैं
जिन-पति-पार्श्वः— ऐसे श्री पार्श्व जिनेन्द्र
शिव-पद-तरु-बीजम्— मोक्ष रूपी वृक्ष के बीज स्वरूप

बोधि-बीजम्— बोधि-बीज को
ददातु— देवें।

भावार्थ— पार्श्व नामक यक्ष जिनके पार्श्व में रहता है— जिनकी सदा सेवा करता है, जिन्होंने समस्त कर्मो का—पाप-समूह का विनाश किया है, समस्त जीवो को आनन्द प्रदान किया है और जो सब जीवों की मनोकामनाओं की पूर्ति करने के लिए चिन्तामणिरत्न के समान हैं, वे श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ भगवान् मोक्ष रूपी वृक्ष का बीज रूप सम्यक्त्व-बोधि मुझे प्रदान करें।



उपसर्ग-हर स्तोत्र

उवग्ग-हरं पासं
पासं वंदामि कम्म-घण-मुक्कं।
विसहर-विस-निन्नासं
मंगल-कल्लाण-आवासं॥ १ ॥

हिन्दी पद्य :

उपसर्ग-हर श्री पार्श्व जिनवर, सकल मंगलकार हैं,
घन कर्म-बन्धन मुक्त हैं, सर्पादि विष-हरतार हैं।
कल्याण के जो धाम हैं, पर स्वयं जो निष्काम हैं,
अति भक्ति से वन्दूं उन्हें जो पाद-पद्म ललाम है॥ १ ॥

अन्वयार्थ :

उवसग्ग-हरं—	उपसर्गो को हरने वाले
कम्म-घण-मुक्कं—	घनघाति कर्मो-कर्मरूपी मेघो से मुक्त
पासं—	पार्श्वजिन को
वन्दामि—	मैं नमस्कार करता हूँ
विसहर—	विपधर-सर्पो के
विस—	विप के
निन्नासे—	विनाशक और
मंगल—	मंगल तथा
कल्लाण—	कल्याण के
आवासं—	आवास (स्थान)
पासं—	पार्श्वजिन को
वंदामि—	नमस्कार करता हूँ

भावार्थ— जिन-शासन पर होने वाले उपसर्गो का विनाशक पार्श्व नामक यक्ष जिनका चरण-सेवक है, जो कर्मरूपी सघन मेघों से मुक्त होकर सदा प्रकाशमान हैं, जिनके नाम का स्मरण करने मात्र से साँप का महाभयंकर विष सर्वथा दूर हो जाता है, जो मंगल-कारक और कल्याण के निवास-स्थान हैं, ऐसे पार्श्वनाथ भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ।



विसहर-फुल्लिंग-मतं
कण्ठे धारेइ जो सया मणुओ।
तस्स गह-रोग-मारी
दुट्ठ-जरा जंति उवसाम॥ २॥

हिन्दी पद्य :

सर्पादि के विष दूर करने नाम जिनका मन्त्र है,
जो कण्ठ मे धारे सदा वह भव्य परम पवित्र है।
सब रोग मारी ज्वर-जरादिक पास नहिं आवे कदा,
ग्रह भूत प्रेतादिक भगे तुम नाम लेते ही सदा॥ २॥

अन्वयार्थ :

जो मणुओ—	जो मनुष्य
विसहर—	विष-हरण करने वाले
फुलिंग-मंतं—	पार्श्व जिनेन्द्र के स्फुरायमान नाम रूप मन्त्र को
सया—	सदा
कंठे—	कण्ठ मे
धारेइ—	धारण करता है
तस्स—	उसके

गह–रोग–मारी—	ग्रह, रोग, मारी और
दुट्ठ जरा—	दुष्ट जरा (दुःखमय बुढापा)
उवसामं—	उपशान्त
जंति—	हो जाते हैं।

भावार्थ— सर्प के विष को दूर करने के लिए श्री पार्श्व जिनेन्द्र का पवित्र नाम ही सर्वोत्कृष्ट मन्त्र है। जो मनुष्य इसे सदा अपने कण्ठ में धारण करता है, उसके दुष्ट ग्रह, भयानक रोग, मारी, दुष्ट (कष्टपूर्ण) जरा आदि सर्व उपद्रव शान्त हो जाते हैं।



चिट्ठउ दूरे मन्तो
तुज्झ पणामो वि बहु–फलो होइ।
नर–तिरिएसु वि जीवा
पावंति न दुक्ख–दोहग्गं॥ ३ ॥

हिन्दी पद्य :

दूरहि रहे तव नाम–मन्त्र, प्रणाम भी बहुफल फले,
नारक पशु के दुःख टलें, दौर्भाग्य नर–भाव ना मिले।
जब तक रहे संसार में, नर–देव–भव के सुख लहे,
तुव नाम की महिमा अतुल यह मन्दमति जन क्या कहे॥ ३ ॥

अन्वयार्थ : मंतो—	हे भगवन् ! आपके नाम का मन्त्र
दूरे—	दूर ही
चिट्ठउ—	रहे
तुज्झ—	आपको किया गया
पणामो वि—	नमस्कार भी

बहुफलो—	बहुत फल वाला
होइ—	होता है (उसके प्रभाव से)
जीवा—	जीव
नर-तिरिएसु वि—	मनुष्य और तिर्यंच गति में भी
दुक्ख-दोहग्गं—	दुःख और दुर्भाग्य को
न पावंति—	नहीं पाते हैं

भावार्थ— हे भगवन् ! आपके नाम रूप मन्त्र का जाप करना तो दूर ही रहे, भक्ति से किया गया नमस्कार भी महान् फल को देता है। आपका भक्त कभी भी मनुष्य, पशु योनि मे दुःख और दुर्भाग्य को नही पाता। वह जहॉ भी जन्म लेगा, सदा आनन्द में रहेगा।



तुह सम्मत्ते लद्धे,
चिन्तामणि- कप्पपायवब्भहिए।
पावंति अविग्घेणं
जीवा अयरामरं ठाणं॥ ४।

हिन्दी पद्य :

कल्पवृक्ष चिन्तामणि से भी परम श्रेष्ठ समकित को पाय,
ता प्रसादते अजर-अमर पद सभी जीव निर्विघ्न लहाय।
यह समकित का ही प्रभाव है, इससे होते हैं भव पार,
भूतकाल मे हुए और आगे भी होगे इससे पार॥

अथवा

चिन्तामणि से, कल्पतरु से भी अधिक सम्यक्त्व है,
जो प्राप्त करते हैं इसे, उनका सर्वत्र महत्त्व है।

सम्यक्त्व से ही भव्य जन निर्विघ्न होते पार है,
पाते अजर औ अमर पद को जहाँ सौख्य अपार है॥ ५॥

अन्वयार्थ : चिन्तामणि—	चिन्तामणि और
कप्पपायवब्भहिए—	कल्पवृक्ष से भी अधिक प्रभावक
तुह—	तुम्हारा
सम्मत्ते—	सम्यक्त्व
लद्धे—	प्राप्त हो जाने पर
जीवा—	जीव
अविग्घेणं—	निर्विघ्न
अयरामरं—	अजर-अमर
ठाणं—	स्थान को
पावंति—	पा लेते हैं।

भावार्थ— हे स्वामिन् ! चिन्तामणि रत्न और कल्पवृक्ष से भी अधिक महिमाशाली सम्यक्त्व रत्न के प्राप्त हो जाने पर आपके भक्त को किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। वे बिना किसी विघ्न-बाधा के अजर-अमर शिवपद को प्राप्त कर लेते हैं।



इअ संथुओ महायस !
भत्तिब्भर-निब्भरेण हियएण !
ता देव ! दिज्ज बोहिं
भवे-भवे पास जिणचंद॥ ५॥

हिन्दी पद्य :

अति भक्ति-भर-निर्भर हृदय से है महायश आपका,

संस्तवन मैंने किया गुण-गान कीना आपका।
तो देव ! देवें बोधि को, जब तक रहूँ संसार में,
हे पार्श्व जिनवर ! आप ही आधार है भव-पार में॥ ५॥

अन्वयार्थ : महायस—	हे महायशस्विन् !
भत्ति-भर—	भक्ति भार से
निब्भर—	निर्भर
हियएणा—	हृदय द्वारा
इअ—	इस प्रकार
संथुओ—	स्तुति किये गये
देव—	देव !
पास—	पार्श्व
जिणचंद—	जिनेन्द्र !
भवे-भवे—	भव-भव में
बोहिं—	बोधि
दिज्ज—	प्रदान कीजिए।

भावार्थ— हे महायशस्विन् भगवन् ! इस प्रकार भक्ति-भार से भरपूर हृदय के द्वारा मैने आपकी स्तुति की है, अतएव जब तक मोक्ष प्राप्त न हो, तब तक भव-भव मे मुझे रत्नत्रयरूप बोधि प्रदान करो।



महावीराष्टक स्तोत्र

यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावाश्चिदचितः,
समं भान्ति ध्रौव्य-व्यय-जनि-लसंतोऽन्तरहिताः।
जगत्साक्षी मार्ग-प्रकटन-परो भानुरिव यो,
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे॥ १॥

हिन्दी पद्य :

जिन्हों की प्रज्ञा में मुकुर-सम चैतन्य जड़ भी,
स्थिति नाशोत्पत्ती-युत झलकते साथ सब ही।
जगद्-ज्ञाता मार्ग प्रकट करते सूर्य-सम जो,
महावीरस्वामी दरश हमको दें प्रकट वे॥ १॥

अन्वयार्थ :

यदीये—	जिनके
चैतन्ये—	चैतन्यरूप ज्ञान में
ध्रौव्य-व्यय-जनि-लसन्तः—	ध्रौव्य व्यय और उत्पाद से युक्त
अन्त-रहिताः—	अनन्त
चिदचितः—	चेतन और अचेतन
भावा—	पदार्थ
मुकुर—	दर्पण के
इव—	समान
समम्—	एक साथ
भान्ति—	प्रतिविम्बित होते हैं
जगत्साक्षी—	जगत् के साक्षात्कार करने वाले

भानु इव—	सूर्य के समान
यः—	जो
मार्ग-प्रकटन परः—	मोक्षमार्ग के प्रकाशक हैं
(सः) महावीरस्वामी—	वे महावीर स्वामी
मे—	मेरे
नयन-पथगामी—	नेत्रों के मार्गगामी (प्रत्यक्ष)
भवतु—	होवें

भावार्थ— जिस प्रकार दर्पण में सम्मुख-स्थित पदार्थ एक साथ प्रतिबिम्बित होते हैं, उसी प्रकार जिनके केवलज्ञान में सभी चेतन-अचेतन अनन्त पदार्थ अपने-अपने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य गुण के साथ युगपत् प्रतिभासित होते हैं, जो सारे विश्व को साक्षात् देखते है, अथवा जो सम्पूर्ण जगत् के साक्षी-तटस्थ भाव से ज्ञाता-दृष्टा मात्र है, किसी भी वस्तु मे राग-द्वेप-भाव नहीं रखते तथा जो सूर्य के समान मोक्षमार्ग को प्रकट करने वाले है, ऐसे श्री महावीर स्वामी हमारे दृष्टिगोचर होवें।



अताम्रं यच्चक्षुः कमल-युगलं स्पन्द-रहितं,
जनान् कोपाऽपायं प्रकटयति वाऽभ्यन्तरमपि।
स्फुटं मूर्तिर्यस्य प्रशमितमयी वाऽति विमला,
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे॥ २॥

हिन्दी पद्य :

जिन्हों के दो चक्षु पलक अरु लाली-रहित हो,
जनों को दर्शाते हृदय-गत क्रोधातिलय को।
जिन्हो की निर्लेपा प्रशमितमयी मूर्त्ति विमला,
महावीरस्वामी दरश हमको दे प्रकट वे॥ २॥

अन्वयार्थ : अताम्रम्—	लालिमा-रहित
स्पंद-रहितम्—	परिस्पन्द-रहित
यच्चक्षुकमल-युगलम्—	जिनके नयनकमल-युगल
जनान्—	मनुष्यों को
आभ्यन्तरम्—	भीतरी
वा—	अथवा (बाह्य क्रोध के अभाव को)
कोपाऽपायम्—	क्रोध के अभाव को
अपि—	भी
प्रकटयति—	प्रकट करते है,
यस्य—	जिनकी
मूर्तिः—	मुद्रा (आकृति)
स्फुटम्—	स्पष्ट रूप से
प्रशमितमयी—	परम शान्ति की धारक है
वा—	और
अति-विमला—	अत्यन्त निर्मल है
(सः) महावीरस्वामी—	वे श्री महावीरस्वामी
नयन-पथगामी-भवतु मे—	मेरे नेत्रों के मार्गगामी होवें।

भावार्थ— जिनके नेत्रकमल-युगल लालिमा से रहित होने से अन्तरंग में क्रोध के सर्वथा अभाव को प्रकट करते हैं तथा परिस्पन्द (टिमकारे से) रहित हैं, जिनकी मुद्रा परम शान्त एवं अति निर्मल है, वे श्री महावीरस्वामी मेरे नेत्रों के दृष्टिगोचर हों।



नमन्नाकेन्द्राली-मुकुट-मणि-भा-जाल-जटिलं,
लसत्पादाम्भोज-द्वयमिह यदीयं तनु-भृताम्।
भव-ज्वाला-शान्त्यै प्रभवति जलं वा स्मृतमपि,
महावीरस्वामी नयन-पथगामी भवतु मे॥ ३॥

हिन्दी पद्य :

नमन्ते इन्द्रो के मुकुट मणि की कान्ति धरता,
जिन्होंके पादों का युग ललित सन्तप्त जनको।
भवाग्नी का हर्ता स्मरण करते ही सुजल है,
महावीरस्वामी दरश हमको दे प्रकट वे॥ ३॥

अन्वयार्थ :

यदीयम्—	जिनके
नमन्नाकेन्द्राली-मुकुट—	नमन करते हुए देवेन्द्रो के समूह के
मणि-भा-जाल-जटिलम्—	शिरोमुकुटो की मणियो की प्रभा-पुंज से व्याप्त
लसत्पादाम्भोज-द्वयम्—	सुशोभित चरणकमल-युगल
इह—	इस लोक मे
तनु-भृताम्—	शरीर-धारियो की
भवज्वाला-शान्त्यै—	भव-ज्वाला को शान्ति के लिए
प्रभवति—	समर्थ है,
वा—	अथवा
स्मृतम् अपि—	जिनका स्मरण भी
जलं—	जल के समान
भव ज्वाला-शान्त्यै—	भव-ज्वाला की शान्ति
(प्रभवति)—	के लिए समर्थ है

(सः) महावीरस्वामी—	वे महावीरस्वामी मेरे नेत्रों के
नयन-पथगामी भवतु मे—	मार्गगामी होवें।

भावार्थ— जिनके दोनों चरण-कमल नमस्कार करते हुए देवेन्द्रों के मुकुटों में जड़ी हुई मणियों की प्रभा के पुंज से व्याप्त होने के कारण अत्यन्त शोभित हो रहे हैं और शरीरधारी प्राणियों की भव-ज्वाला शान्त करने के लिए जिनका स्मरण जल के समान समर्थ है, वे श्री महावीरस्वामी मेरे दृष्टिगोचर हों।



यदर्चा-भावेन प्रमुदित-मना दर्दुर इह,
क्षणादासीत् स्वर्गी गुण-गण-समृद्धः सुख-निधिः।
लभन्ते सद्भक्ता शिव सुख-समाजं किमु तदा,
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे॥ ४॥

हिन्दी पद्य :

जिन्हों की पूजा से मुदित मन हो मेंढक जभी,
हुआ स्वर्गी ताही समय गुणधारी अति सुखी।
लहै जो मुक्ती के सुख भगत तो विस्मय कहा,
महावीरस्वामी दरश हमकों दें प्रकट वे॥ ४॥

अन्वयार्थ : यदर्चा-भावेन—	जिनकी पूजा के भाव से
प्रमुदित-मनाः—	हर्षित चित्त वाला
दर्दुरः—	मेंढक
इह—	इस लोक में
क्षणात्—	क्षण भर मे
गुण-गण समृद्धः—	गुण-गणों से समृद्ध (सम्पन्न)

सुख-निधि—	सुख का निधान
स्वर्गी—	स्वर्ग का देव
आसीत्—	हो गया
सद्भक्तः—	फिर सच्चे भक्तजन
शिव-सुख-समाजम्—	मोक्ष के सुख समूह को
लभन्ते—	पावे
तदा किमु—	तो इसमे क्या आश्चर्य है ?
(सः) महावीरस्वामी—	वे महावीरस्वामी
नयन पथगामी भवतु मे—	मेरे नेत्रो के मार्ग-गामी होवे।

भावार्थ— जिनकी पूजा करने के भाव से प्रमोद को प्राप्त हुआ मेढक इस लोक मे ही राजा श्रेणिक के हाथी के पगतले दबकर मरा और क्षण भर मे अणिमा-महिमा आदि अनेक गुणरूपी ऋद्धियो से समृद्ध और सुख से सम्पन्न स्वर्ग का देव हो गया तो जो आपके सच्चे भक्त है, वे यदि शिव (मोक्ष) के सुख-समूह को प्राप्त करते है तो इसमे क्या आश्चर्य है? कुछ भी आश्चर्य नही है। ऐसे श्री महावीरस्वामी मेरे दृष्टिगोचर होवे। इस श्लोक मे नन्द मणिकार के जीव मेढक के कथानक का सकेत किया गया है। विशेप वृत्तान्त ज्ञाताधर्मकथाग मे वर्णित है।



कनत्स्वर्णाभासो प्यपगत-तनुर्ज्ञान-निवहो,
विचित्रात्माऽप्येको नृपतिवर-सिद्धार्थतनय.।
अजन्माऽपि श्रीमान् विगतभवरागोद्भुत-गतिर्—
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे॥ ५॥

हिन्दी पद्य :

तपे सोने ज्यो भी रहित वपु मे ज्ञान-गृह है,

अकेले नाना भी नृपतिवर सिद्धार्थसुत हैं।
अजन्मा भी श्रीमान्, भव-रत नहीं, अद्भुतगती,
महावीरस्वामी दरश हमको दे प्रकट वे॥ ५॥

अन्वयार्थ : कनत्स्वर्णाभासः अपि— तपाये (चमकते) हुए सुवर्ण के समान कान्ति वाले भी

अपगत-तनुः— शरीर से रहित
विचित्रात्मा, अपि— विचित्र—होकर भी
एकः— अद्वितीय
अजन्मा अपि— अजन्मा होकर भी
नृपतिवर सिद्धार्थ तनयः—महाराज सिद्धार्थ के नन्दन
श्रीमान्— श्रीमान् है, फिर भी
विगत-भवरागः— सासारिक राग से रहित है।
अद्भुत-गतिः— ऐसी अद्भुत शक्ति के धारक
ज्ञान-निवहः— ज्ञानपुंज
महावीरस्वामी— महावीरस्वामी
नयन-पथगामी भवतु मे—मेरे नेत्रों के मार्गगामी होवे।

भावार्थ— तीर्थंकर पर्याय मे तपाये हुए सुवर्ण के समान देह के धारक थे किन्तु अव सिद्ध अवस्था में अशरीरी है। शुद्ध चैतन्य रूप मे एक होकर के भी दर्शन, सुख, वीर्यादि अनन्त गुणों के धारक होने मे विचित्र (विभिन्न), आत्मस्वरूप वाले हैं, महाराज सिद्धार्थ के पुत्र होकर के भी अजन्मा है, अन्तरंगवहिरंग लक्ष्मी के स्वामी श्रीमान् होकर के भव-राग मे विमुक्त हें, इस प्रकार मे परस्पर विरोधी स्वभाव के धारण करने मे अद्भुत गति वा केवलज्ञान के पुज श्री महावीरस्वामी मेरे दृष्टिगोचर हो।

यदीया वाग्गंगा विविध-नय-कल्लोल-विमला,
बृहज्-ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनतां या स्नपयति।
इदानीमप्येषा बुध-जन-मरालैः परिचिता,
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे॥ ६॥

हिन्दी पद्य :

जिन्हो की वाग्गंगा अमल नय-कल्लोल धरती,
नहाती लोगों को, सुविमल महाज्ञान जल मे।
अभी भी सेते हैं बुधजन महाहंस जिसको,
महावीरस्वामी दरश हमको दे प्रकट वे॥ ६॥

अन्वयार्थ : यदीया— जिनकी
या— यह
विविध-नयकल्लोल— अनेक नयरूप तरंगों से
विमला— उज्ज्वल
वाग्-गंगा— वाणी रूपी गंगा
बृहज्-ज्ञानाम्भोभिः— विपुल ज्ञानरूप जल से
जगति— इस लोक मे
जनताम्— प्राणियों का
स्नपयति— अभिषेक करके उनके सन्ताप को शान्त करती हैं।
इदानीम् अपि— और आज भी
एषा— यह
बुध-जन-मरालैः— विद्वज्जन रूपी हंसों से
परिचिता— परिचित हो रही है
(सः) महावीरस्वामी— वे महावीरस्वामी
नयन पथगामी भवतु मे— मेरे नेत्रों के मार्ग-गामी होवें।

भावार्थ— अनेक प्रकार के नयरूप कल्लोलो (तरंगो) से युक्त होकर के भी निर्मल स्वरूप वाली जिनकी दिव्यध्वनि रूपी वचन-गंगा आज भी विशाल जलप्रवाह से जगत की जनता को स्नान करा रही है और विद्वज्जन रूपी हंसों से परिचित (व्याप्त) है, ऐसे श्री महावीरस्वामी मेरे दृष्टिगोचर होवे।



अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवन-जयी काम-सुभटः,
कुमारावस्थायामपि निज-बलाद् येन विजितः।
स्फुरन्नित्यानन्द-प्रशम-पद-राज्याय स जिनः,
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे॥ ७॥

हिन्दी पद्य :

त्रिलोकी का जेता, मदन-भट जो दुर्जय महा,
युवावस्था में भी, वह दलित कीना स्व-बल से।
प्रकाशी मुक्ती के अति सुखद दाता जिन विभू,
महावीरस्वामी दरश हमको दे प्रकट वे॥ ७॥

अन्वयार्थ : येन—	जिसने
कुमारावस्थायाम्—	कुमार अवस्था मे
अपि—	भी
स्फुरन्नित्यानन्द-प्रशम—	स्फुरायमान नित्य आनन्द वाले प्रशान्त
पद-राज्याय—	शिव-पद के राज्य को पाने के लिए
निज-बलात्—	अपने आत्म-बल से
अनिर्वारोद्रेकः—	दुर्निवार उद्रेक वाले

त्रिभुवन-जयी—	त्रिभुवन-विजेता
काम-सुभटः—	कामरूपी महान् योद्धा को
विजितः—	जीता है
सः—	वे
जिनः—	जिनेन्द्र
महावीरस्वामी नयन—	महावीरस्वामी, मेरे नेत्रों के
पथगामी भवतु मे—	मार्ग-गामी होवे।

भावार्थ— जिसका प्रबल उदय निवारण नहीं किया जा सकता और जिसने त्रिभुवन के समस्त जीवो को जीत लिया है अर्थात् अपने अधीन कर रखा है, ऐसे महान् योद्धा कामदेव को भी जिन्होने स्फुरायमान नित्य आनन्द रूप प्रशम पद (मोक्ष) का राज्य पाने के लिए अपने प्रबल पराक्रम से कुमार-काल मे ही पराजित कर दिया अर्थात् जीता है, ऐसे श्री महावीरस्वामी मेरे दृष्टिगोचर होवे।



महा-मोहातंक-प्रशमन-पराऽऽकस्मिक-भिषक्,
निरापेक्षोबन्धु र्विदित-महिमा-मंगल-करः।
शरण्यः साधूना भव-भय-भृतामुत्तम-गुणः,
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे॥ ८॥

हिन्दी पद्य :

महामोहव्याधी-हरण-करता वैद्य महज,
विना इच्छा बन्धु, पथित जग कल्याण करता।
सहारा भव्यो को, सकल जग मे उत्तम गुणी,
महावीरस्वामी दरश हमको दे पकट वे॥ ८॥

अन्वयार्थ : महा-मोहातंक-प्रशमन—	महान् मोह के आतंक को सर्वथा शान्त
पराऽऽकस्मिक भिषक्—	करने मे तत्पर आकस्मिक (अकारण) वैद्य
निरापेक्षः—	अपेक्षा-रहित
बन्धुः—	परम बन्धु
विदित-महिमा—	सर्वविदित महिमा वाले
मंगल-करः—	मंगल-कारक
भव-भय-भृताम्—	संसार के भय से भरे हुए
साधुनाम्—	साधुजनो को
शरण्यः—	शरण देने वाले
उत्तमगुणाः—	परमोत्कृष्ट गुणशाली
महावीरस्वामी नयन—	वे महावीरस्वामी मेरे नेत्रो के
पथगामी भवतु मे—	मार्ग-गामी होवें।

भावार्थ— जो महामोहरूपी आतंक (शीघ्र प्राण-हारक रोग) को सर्वदा के लिए शान्त करने वाले आकस्मिक वैद्य हैं, संसार के समम्त जीवो के अकारण बन्धु है, जगत् में जिनकी महिमा विख्यात है, जो सर्वथा कल्याण करने वाले हैं, संसार के भय से डरने वाले साधुजनो को शरण देने वाले हैं और सभी उत्तम गुणों के धारक हैं, ऐसे श्री महावीरस्वामी मेरे नेत्रों के दृष्टिगोचर होवें।



महावीराष्टकं स्तोत्रं, भक्त्या भागेन्दुना कृतम्।
यः पठेच्छ्णुयाच्चापि, स याति परमां गतिम्॥ ९॥

हिन्दी पद्य : संस्कृत वीराष्टक रचा, भागचन्द रुचिवान।
उसका यह अनुवाद भवि, पढ़ पावें निर्वान॥ ९॥

अन्वयार्थ : भागेन्दुना—	भागचन्द द्वारा
भक्त्या—	भक्तिपूर्वक
कृतम्—	रचित
महावीराष्टकम्—	इस आठ पद्यमय महावीराष्टक
स्तोत्रम्—	स्तोत्र को
यः—	जो
पठेत—	पढेगा
च, अपि—	और (अथवा)
शृणुयात्—	सुनेगा
सः—	वह
परमाम्—	परम
गतिम्—	शिवगति को
याति—	जायेगा।

भावार्थ— इस महावीराष्टक स्तोत्र को भक्ति से प्रेरित होकर मुझ भागचन्द्र ने रचा है, जो इसे पढेगे और सुनेगे वे परम उत्कृष्ट शिवगति को प्राप्त होवे।



सत्त्वेपु मैंत्री गुणिपु प्रमोदं,
क्लिप्टेपु जीवेपु कृपा-परत्वम्।
माध्यस्थ्य-भावं विपरीत-वृत्तौ,
सदा ममाऽत्मा विदधातु देव:॥ १ ॥

हिन्दी पद्य : हो' विश्वमैत्री, करुणा दु:खी पै,
प्रमोद हो नित्य गुणी जनो मे।
मध्यस्थता होय विरोधियो पै,
सुवुद्धि 2 देवें जिनदेव मेरे॥ १ ॥

अन्वयार्थ :

देव—	हे भगवन्।
मम-आत्मा—	मेरा आत्मा
सदा—	सदा
सत्त्वेषु—	सर्व प्राणियो पर
मैत्रीम्—	मैत्री भाव को
गुणिषु—	गुणी जनों पर
प्रमोदम्—	प्रमोद भाव को
क्लिष्टेषुजीवेषु—	दु:खी जीवो पर
कृपा-परत्वम्—	करुणा भाव को
विपरीत—वृत्तौ—	और विपरीत वृत्ति वाले पर
माध्यस्थ्य-भावम्—	मध्यस्थ भाव को
विदधातु—	धारण करे

भावार्थ— हे जिनेन्द्र। मेरा सव प्राणियो पर सदा मैंत्रीभाव रहे। गुणी जनों को देखकर प्रमोदभाव उत्पन्न हो, दुखी जीवों पर करुणाभाव रहे और विपरीत आचरण करने वाले लोगों पर माध्यस्थभाव रहे। हे देव। मुझे ये चारो गुण दीजिए।



शरीरतः कर्तुमनन्त–शक्तिम्
विभिन्नमात्मानमपास्त–दोषम्।
जिनेन्द्र ! कोपादिव खड्ग–यष्टिम्,
तव प्रसादेन ममाऽस्तु शक्तिः॥ २॥

हिन्दी पद्य : अनन्त वीर्यान्वित, वीतरागी,
शरीर से भिन्न करूँ निजात्मा।
ज्यो कोश से भिन्न करें कृपाण,
देवेन्द्र, देवे यह शक्ति मेरे॥ २॥

अन्वयार्थ :

जिनेन्द्र—	हे जिनेन्द्र देव !
कोषात्—	म्यान से
खड्ग-यष्टिम् इव—	तलवार के समान
अनन्त-शक्तिम्—	अनन्त शक्ति वाले
अपास्त-दोषम्—	सर्व दोषों से रहित
आत्मानम्—	अपने आत्मा को
शरीरतः—	शरीर से
विभिन्नम्—	विभिन्न
कर्तुम्—	करने के लिए
तव—	आपके
प्रसादेन—	प्रसाद से
मम—	मेरी
शक्तिः—	शक्ति
अस्तु—	हो।

भावार्थ— हे जिनेन्द्र ! आपके प्रसाद से मुझ मे ऐसी शक्ति प्रगट हो कि जिससे मैं अनन्त शक्ति वाले और सर्व दोषों से रहित अपने आत्मा को शरीर से इस प्रकार पृथक् कर सकूँ जैसे कोई म्यान से तलवार को निकाल कर पृथक् कर देता है।



दुःखे-सुखे वैरिणि बन्धु-वर्गे,
योगे-वियोगे भवने वने वा।
निराकृताऽशेप-ममत्व-बुद्धेः,
समं मनो मेऽस्तु सदाऽपि नाथ ! ॥ ३ ॥

हिन्दी पद्य : दुखों सुखों में, अरि-वन्धुओं मे
वियोग-संयोग दशादिकों मे।
प्रासाद मे भी वन-खण्ड में या,
जिनेन्द्र ! हो वुद्धि समान मेरी॥ ३ ॥

अन्वयार्थ :

नाथ—	हे स्वामिन् !
निराकृताशेपममत्व—	समस्त पर-पदार्थों से ममत्व-
बुद्धेः—	वुद्धि को दूर करने वाले ऐसे
मे मनः—	मेरा मन
दुःखे—	दुःख मे
सुखे—	सुख मे
वैरिणि—	शत्रु में
बन्धु-वर्गे—	वन्धुवर्ग मे
योगे—	संयोग में
वियोगे—	वियोग मे
भवने—	भवन मे

वने वा—	और वन मे
सदा-अपि—	सदा ही
समम्—	समान
अस्तु—	रहे।

भावार्थ— हे नाथ । मेरा मन दुःख मे, सुख में, शत्रु जनो पर और बन्धुवर्ग पर, अनिष्टसयोग या इष्टवियोग मे, वन मे या भवन मे, राग-द्वेष और ममत्व बुद्धि छोडकर सदा समान रहे।



मुनीश । लीनाविव कीलिताविव,
स्थिरौ निपाताविव बिम्बिताविव।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठता सदा,
तमोधुनानौ हृदि दीपकाविव॥ ४॥

हिन्दी पद्य : अज्ञान-नाशी तव पाद दोनों,
वसे सदा ही चित्त-माहि मेरे।
चित्राकित ज्यों, मणि-दीपिका ज्यो,
कीले गये, या स्थिति पा गये हो॥ ४॥

अन्वयार्थ :

मुनीश—	हे मुनीश्वर ।
तमो—	अन्धकार के
धुनानौ—	विनाशक
दीपकौ इव—	दो दीपको के समान
त्वदीयौ—	आपके
पादौ—	दोनो चरण
मम हृदि—	मेरे हृदय मे
लीनौ इव—	लीन हो गये के समान

कीलितौ इव—	कीलित हुए के समान
स्थिरौ—	स्थिर हो गये के समान
निषातौ इव—	उत्कीर्ण कर दिये गये के समान अथवा
विम्बितौ इव—	प्रतिविम्बित के समान
सदा—	सदा
तिष्ठताम्—	विराजमान रहें

भावार्थ— हे मुनीश ! अज्ञान-अन्धकार का विनाश करने वाले आपके दोनो चरण-कमल मेरे हृदय मे लीन हुए के समान, या कील दिये गये के समान या उत्कीर्ण कर दिये के समान स्थिर और प्रतिविम्बित होते हुए दीपक के समान सदा प्रकाश करते हुए विराजमान रहे।



एकेन्द्रियाद्या यदि देव ! देहिनः,
प्रमादतः संचरता इतस्ततः।
क्षता विभिन्ना मलिता निपीडताः,
तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा॥ ५॥

हिन्दी पद्य : एकेन्द्रिये' को आदि लगा अनेकों,
प्राणी 2 मरे हो चलते हुए में।
प्रमाद से पीडित छिन्न-भिन्न,
हों,, पाप मिथ्या सब देव मेरे॥ ५॥

अन्वयार्थ :		
	देव—	हे देव !
	इतस्ततः—	इधर-उधर
	संचरता (मया)—	संचार करते हुए मेरे द्वारा
	यदि—	यदि
	एकेन्द्रियाद्याः—	एकेन्द्रिय आदि

देहिनः—	प्राणी
क्षताः—	विनष्ट हुए हो
विभिन्नाः—	छिन्न–भिन्न कर दिये गये हो या
मलिता—	परस्पर मे मिला दिये गये हो या
निपीडिताः—	पीडित किये गये हो
तदा—	तो
तत् (मे)—	वह मेरा
दुरनुष्ठितम्—	दुराचरण–पाप
मिथ्या—	मिथ्या (निष्फल)
अस्तु—	हो।

भावार्थ— हे देव ! यदि प्रमाद से इधर–उधर चलते हुए एकेन्द्रिय आदि जीव क्षत–विक्षत पीडित–सम्मिलित या छिन्न–भिन्न हो गये हो तो मेरा यह दुष्कृत मिथ्या–निष्फल हो।



विमुक्ति–मार्ग–प्रतिकूल–वर्त्तिना,
मया कषायाऽक्ष–वशेन दुर्धिया।
चरित्र–शुद्धेर्यदकारि लोपनं,
तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृतं पभो ! ॥ ६ ॥

हिन्दी पद्य : हा ! मुक्ति–मार्ग–प्रतिकूल होके,
या, इन्द्रियाधीन विमूढ होके।
चारित्र की शुद्धि विलुप्त की हो,
तो नाथ ! मिथ्या मम पाप होवें ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ :

प्रभो—	हे नाथ !
विमुक्ति–मार्ग–पतिकूल—	मोक्षमार्ग के प्रतिकूल आचरण

वर्तिना:—	करने वाले
दुर्धिया—	दुर्बुद्धि वाले
मया—	मेरे द्वारा
कषायाऽक्ष-वशेन—	कषाय और इन्द्रियों के वश होकर
चारित्र-शुद्धेः—	चारित्र की शुद्धि का
यत् लोपनम्—	जो विलोप
अकारि—	किया हो वह
मम—	मेरा
तत्—	वह
दुष्कृतम्—	दुष्कृत
मिथ्या—	मिथ्या
अस्तु—	हो।

भावार्थ— हे प्रभो ! मुक्तिमार्ग से प्रतिकूल आचरण करके विषय अथवा कषाय वश होकर मुझ दुर्बुद्धि ने यदि चारित्र की शुद्धि का विलोप किया हो तो मेरा यह दुष्कृत मिथ्या हो।



विनिन्दनाऽऽलोचनगर्हणैरहम्,
मनो-वचः-काय-कषाय-निर्मितम्।
निहन्मि पापं भव-दुःख-कारण,
भिषग् विषं मन्त्र-गुणैरिवाऽखिलम्॥ ७॥

हिन्दी पद्य : मनो वचः काय-कषाय से मैं,
संसार-दुःख-प्रद पाप कीने।
आलोचना, गर्हण, निन्दना कर,
नाशूं, यथा वैद्य विषादि नाशे॥ ७॥

अन्वयार्थ :	**भिषक्—**	वैद्य
	मंत्र-गुणैः—	मन्त्र-गुणो के द्वारा
	अखिलं, विषम् इव—	जैसे समस्त विष को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार
	अहम्—	मैं
	विनिन्दनाऽऽलोचन-गर्हणैः—	निन्दा, आलोचना और गर्हा के द्वारा
	मनो-वचः-काय-कषाय—	मन, वचन, काय और कषाय से
	निर्मितम्—	उपार्जित
	भव-दुःखकारणनम्—	ससार के दुःखो के कारणभृत
	पापम्—	पाप को
	निहन्मि—	नष्ट करता हूँ।

भावार्थ— हे भगवन् ! मैंने मन, वचन, काय और कषाय के द्वारा भव-दुःख का कारण जो पाप संचित किया है, उसे अपनी निन्दा, गर्हा और आलोचना के द्वारा उसी प्रकार से नष्ट करता हूँ जैसे वैद्य मन्त्र के गुणों के द्वारा समस्त विष को नष्ट कर देता है।



अतिकमं यं विमतेर्व्यतिक्रम्
जिनाऽतिचार सुचरित्रकर्मणः।
व्यधामनाचारमपि पमादत·
पतिकमं तस्य करोमि शुद्धये ॥ ८ ॥

हिन्दी पद्य : चारित्र की शुद्धि-विपे कदाचित्
अतिक्रमादि व्यतिपात होवें।
हों या अनाचार, व्यतिक्रमा वा,
शुद्धव्यर्थ निन्दा, अब मैं करूं हूँ॥ ८॥

अन्वयार्थ :

जिन—	हे जिनेन्द्र भगवन् !
(अहम्)—	(मैंने)
सुचरित्रकर्मणः—	उत्तम चारित्र के अनुष्ठान का
प्रमादतः—	प्रमाद से
यम्—	जो
अतिक्रमम्—	अतिक्रम
व्यतिक्रमम्—	व्यतिक्रम
अतिचारम्—	अतिचार और
अनाचारम् अपि—	अनाचार भी
व्यधाम्—	किया
तस्य—	उसकी
शुद्धये—	शुद्धि के लिए
प्रतिक्रमम्—	प्रतिक्रमण
करोमि—	करता हूँ।

भावार्थ— हे जिनेन्द्र ! मैंने ग्रहण किए हुए चारित्र के पालन करने में जो प्रमाद और कुबुद्धि वश अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार किया है उसकी शुद्धि के लिए मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।



क्षति मनःशुद्धि-विधेरतिक्रमं,
व्यतिक्रमं शीलवृतेर्विलंघनम्।
प्रभोऽतिचार विषयेषु वर्तन,
वदन्त्यनाचारमिहातिसक्ताताम्॥ ९॥

हिन्दी पद्य : क्षती मनः शुद्धि-विधी अतिक्रमा,
व्यतिक्रमा शील-वृती विलघना।
अक्षार्थ-वृत्ति-व्यतिचार-संज्ञा,
कहे अनाचार अति प्रवृत्ति को॥

अथवा

चित्त-शुद्धि का नाश, अतिक्रम है कहलाता,
शील-बाड का नाश, व्यतिक्रम है कहलाता।
इन्द्रिय-विषय-प्रवृत्ति कहाता अतीचार है,
इन्द्रिय-विषयासक्ति कहाता अनाचार है॥ ९॥

अन्वयार्थ :

प्रभो—	हे प्रभो।
इह (ज्ञानिनः)—	ज्ञानी जन
मनःशुद्धि-विधेः—	मन की शुद्धि-विधि के
क्षतिम्—	विनाश को
अतिक्रमम्—	अतिक्रम,
शील-वृतेः—	शील की बाड के
विलंघनम्—	उल्लघन को
व्यतिक्रमम्—	व्यतिक्रम,
विषयेषु—	विषयो मे
वर्तनम्—	प्रवर्तन को
अतिचारम्—	अतिचार और

अतिसक्तताम्—	अति आसक्ति को
अनाचारम्—	अनाचार
वदन्ति—	कहते है।

भावार्थ— हे प्रभो ! मैंने मन की शुद्धि के विनाश रूप अतिक्रम, शील की बाड का उल्लंघन रूप व्यतिक्रम, इन्द्रियो के विपयो मे प्रवृत्ति करके अतिचार और उनमें अति आसक्त होकर अनाचार किया हैं। (हे भगवन् ! आपके प्रसाद से मेरे ये सब दोप दूर होवें।)



यदर्थ-मात्रा-पद-वाक्य-हीन,
मया प्रमादाद् यदि किंचनोक्तम्।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी,
सरस्वती केवल-बोध-लब्धिम्॥ १०॥

हिन्दी पद्य : हे नाथ ! मात्रा-पद-हीन वाक्य,
प्रमाद से जो कुछ भी कहा हो।
सरस्वती देवि ! क्षमा करें मुझे,
देवें तथा केवल बोधि-लक्ष्मी॥ १०॥

अन्वयार्थ :

मया—	मेरे द्वारा
प्रमादात्—	प्रमाद से
यदि—	यदि
यत्—	जो
अर्थ-मात्रा-पद-वाक्य—	अर्थ, मात्रा, पद और वाक्य
हीनम्—	से हीन
किंचित्—	कुछ
उक्तम्—	कहा गया हो तो

मे—	मेरे
तत्—	उस अपराध को
क्षमित्वा—	क्षमा करके
सरस्वती देवी—	सरस्वती देवी
केवलबोध-लब्धिम्—	केवलज्ञान रूपी बोध लब्धि को
विदधातु—	प्रदान करें।

भावार्थ— मैंने प्रमाद से यदि अर्थ, मात्रा, पद और वाक्य से हीन अर्थात् जिन वचन से विरुद्ध कुछ कहा हो तो मेरा वह अपराध सरस्वती देवी क्षमा करें और मुझे केवलबोध रूप लब्धि को देवें।



बोधिः समाधिः परिणाम-शुद्धिः,
स्वात्मोपलब्धिः शिव-सौख्य-सिद्धिः।
चिन्तामणि चिंतितवस्तु-दाने,
त्वां वन्द्यमानस्य ममाऽस्तु देवि ! ॥ ११ ॥

हिन्दी पद्य : चिन्तामणि ज्यो चित-चिन्त्य-दाता,
देवें सदा बोधि समाधि शुद्धि।
स्वात्मोपलब्धी शिव-सोख्य सिद्धी,
सरस्वती देवि, सदा मुझे दे ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ :

देवि—	हे सरस्वती देवि !
चिंतित-वस्तु दाने—	मनोवांछित वस्तु के देने में
चिन्तामणिम्—	चिन्तामणि रत्न के समान
त्वाम्—	आपको
वन्द्यमानस्य मम—	वन्दन करने वाले मुझे
बोधिः—	बोधि

समाधिः—	समाधि
परिणाम-शुद्धिः—	परिणामों की शुद्धि
स्वात्मोपलब्धिः—	अपने आत्मस्वरूप की प्राप्ति
(च) शिव-सौख्य-सिद्धि—	और मोक्षसुख की सिद्धि
अस्तु—	हो।

भावार्थ— हे सरस्वती देवि ! आप मनोवांच्छित वस्तु को देने के लिए चिन्तामणि के समान हैं, अतएव आपकी वन्दना करने वाले इस जन को बोधि, समाधि, परिणामों की शुद्धि, अपने आत्मस्वरूप की उपलब्धि और मुक्ति के सुख की सिद्धि आपके प्रसाद से प्राप्त हो।



यः स्मर्यते सर्व-मुनीन्द्र-वृन्दैः,
यः स्तूयते सर्वनराऽमरेन्द्रैः।
यो गीयते वेद-पुराण-शास्त्रैः,
स देव-देवो हृदये ममाऽऽस्ताम्॥ १२॥

हिन्दी पद्य : योगीश ध्याते जिसको सदा ही,
नृपेन्द्र देवेन्द्र नमें जिसी को।
गाते जिसे वेद पुराण शास्त्र,
वही जगन्नाथ वसे हिये में॥ १२॥

अन्वयार्थ :

यः—	जो
सर्व-मुनीन्द्र-वृन्दैः—	सभी मुनिराजो के समूह द्वारा
स्मर्यते—	स्मरण किया जाता है
यः—	जो
सर्व-नराऽमरेन्द्रैः—	सभी नरेन्द्रों और देवेन्द्रो से
स्तूयते—	स्तुति किया जाता है

यः—	जो
वेद-पुराण-शास्त्रैः—	वेदो पुराणो और शास्त्रो के द्वारा
गीयते—	गाया जाता है
सः—	वह
देव-देवः—	देवाधिदेव (अर्हन्त)
मम—	मेरे
हृदये—	हृदय मे
आस्ताम्—	विराजमान रहे।

भावार्थ— जिसे सर्व मुनिजन सदा स्मरण करते हे, जिस का सर्व इन्द्र, नरेन्द्र और धरणेन्द्र स्तवन करते हैं और जिसका वेद, पुराण और शास्त्र गुणगान करते है, वह देवाधिदेव मेरे हृदय में सदा विराजमान रहे।



यो दर्शन-ज्ञान-सुख-स्वभावः,
समस्त-ससार-विकार-बाह्यः।
समाधि-गम्यः परमात्म-संज्ञः,
स देव-देवो हृदये ममाऽऽस्मात्॥ १३॥

हिन्दी पद्य : जो दर्शन-ज्ञान-सुख-स्वभावी,
समस्त-ससार-विकार-हारी।
समाधि से गम्य परात्म-सज्ञी,
वही जगन्नाथ बसे हिये मे॥ १३॥

अन्वयार्थ :

यः—	जो
दर्शन-ज्ञान-सुख-स्वभावः—	अनन्तदर्शन अनन्तज्ञान और अनन्तसुख रूप स्वभाव वाला है

(यः) समस्तसंसार—	जो संसार के समस्त विकारों से
विकारबाह्यः—	रहित है
(यः) समाधि-गम्यः—	जो समाधि से गम्य है
(यः) परमात्मसंज्ञः—	और परमात्म संज्ञा का धारक है
सः, देव-देवः—	वह देवों का देव
मम हृदये—	मेरे हृदय में
आस्ताम्—	विराजमान रहे

भावार्थ— जो अनन्त दर्शन, ज्ञान और सुखरूप स्वभाव वाला है, जो संसार के समस्त विकारों से रहित है, जो समाधि के द्वारा ही अनुभवगम्य है और जिसे योगिजन परमात्मा कहते हैं, वह देवाधिदेव मेरे हृदय में सदा विराजमान रहे।



निषूदते यो भव-दुःख-जालम्,
निरीक्षते यो जगदन्तरालम्।
योऽन्तर्गतो योगि-निरीक्षणीयः,
स दव-देवो हृदये ममाऽऽस्ताम्॥ १४॥

हिन्दी पद्य : विध्वंसता जो भव-दुःख-जाल,
निरीक्षता जो जगदन्तराल।
अन्तः-स्थ जो योगि-निरीक्षणीय,
वही जगन्नाथ वसे हिये में॥ १४॥

अन्वयार्थ :

यः—	जो
भव-दुःख-जालम्—	संसार के दुःख समूह को
निषूदते—	नष्ट करता है
यः—	जो

जगदन्तरालम्— जगत् के अन्तराल (मध्य भाग) को
निरीक्षते— देखता है
अन्तर्गतः— जो अन्तःस्थित है
योगि-निरीक्षणीयः—और योगिजनो के द्वारा अवलोकनीय है
स देव-देवः— वह देवां का देव
मम हृदये— मेरे हृदय में
आस्ताम्— विराजमान रहे।

भावार्थ— जो ससार के दुःखजाल को काटता है, जो जगत् के अन्तराल को अर्थात् सम्पूर्ण लोक को देखता है और जो योगिजनो के द्वारा हृदय मे निरीक्षण करने योग्य है, वह देवाधिदेव मेरे हृदय मे सदा विराजमान रहे।



विमुक्ति-मार्ग-प्रतिपादको यो—
यो जन्म-मृत्यु-व्यसनाद् विमुक्तः।
त्रिलोक-लोकी विकलोऽकलङ्कः,
स देव-देवो हृदये ममाऽऽस्ताम्॥ १५॥

हिन्दी पद्य : जो मुक्ति का मार्ग-प्रकाशकारी,
जो जन्म-मृत्यु-व्यसनादि-हारी।
त्रिलोक-लोकी पर निष्कलंक,
वही जगन्नाथ वसे हिये मे॥ १५॥

अन्वयार्थ : यः— जो
विमुक्ति-मार्ग-प्रतिपादकः—मोक्षमार्ग का प्रतिपादक हैं
यः— जो

जन्म-मृत्यु-व्यसनात्—	जन्म-मरणादि दु:खों से
विमुक्तः—	रहित है
(यः) त्रिलोक-लोकी—	जो तीनों लोको का अवलोकन करता
विकलः—	शरीर-रहित है
अकलंकः—	कलंक-रहित है
स देव-देवः—	वह देवों का देव
मम—	मेरे
हृदये—	हृदय में
आस्ताम्—	विराजमान रहे।

भावार्थ— जो मोक्षमार्ग का प्रतिपादक है, जो जन्म मरण आदि दु:खो से रहित है, जो त्रिलोकदर्शी है, शरीर रहित और निष्कलंक है, वह देवाधिदेव मेरे हृदय में सदा विराजमान रहे।



क्रोडीकृताऽशेष-शरीरि-वर्गा:—
रागादयो यस्य न सन्ति दोषाः।
निरिन्द्रियो ज्ञान-मयोऽनपायः,
स देव-देवो हृदये ममाऽऽस्ताम्॥ १६॥

हिन्दी पद्य - स्वाधीन कीने सब जीवमात्र,
वे राग-द्वेषादि रहे न जिसमें।
अतीन्द्रिय ज्ञानमयी सदा जो,
वही जगन्नाथ वसे हिये में॥ १६॥

अन्वयार्थ :	क्रोडीकृताऽशेष—	समस्त प्राणिवर्ग को व्याप्त
	शरीरि-वर्गाः—	करने वाले
	रागादयः—	रागादिक
	दोषाः—	दोष
	यस्य—	जिसके
	न सन्ति—	नहीं हैं
	सः—	वह
	निरिन्द्रियः—	अतीन्द्रिय
	ज्ञानमयः—	ज्ञानमयी
	अनपायः—	अपाय-रहित
	देव-देवः—	देवो का देव
	मम हृदये—	मेरे हृदय मे
	आस्ताम्—	विराजमान रहे।

भावार्थ— समस्त प्राणिवर्ग को अपने अधीन करने वाले रागादि दोष जिसमे लेशमात्र भी नही है, जो अतीन्द्रिय है, ज्ञानमयी है और सर्व अपायो से रहित है, वह देवाधिदेव मेरे हृदय मे सदा विराजमान रहे।



यो व्यापको विश्व-जनीन-वृत्तिः,
सिद्धो विबुद्धो धुत-कर्म-बन्धः।
ध्यातो धनीते सकल विकारम्,
स देव-देवो हृदये ममाऽऽस्ताम्॥ १७॥

हिन्दी पद्य : जो सर्वव्यापी निज ज्ञान द्वारा,
सदा सुखी बुद्धि विनष्टकर्मा।
ध्याया विनाशे सबके विकार,
वही जगन्नाथ वसे हिये में॥ १७॥

अन्वयार्थ :	**यः—**	जो
	व्यापकः—	(ज्ञान की अपेक्षा) सर्वव्यापक है
	विश्व-जनीन-वृत्तिः—	विश्वकल्याण करने का स्वभाव वाला है
	सिद्धः—	सिद्ध है
	विबुद्धः—	ज्ञायक स्वभावी है
	धुत-कर्म-बन्धः—	कर्मबन्धनों का विध्वंसक है
	ध्यातः—	ध्यान मे चिन्तन किया गया, जो
	सकलम्—	समस्त
	विकारम्—	विकारी भावो को
	धुनीते—	नष्ट करता है
	स देव-देवः—	वह देवों का देव
	मम हृदये—	मेरे हृदय में
	आस्ताम्—	विराजमान रहे।

भावार्थ— विश्वकल्याण की वृत्ति जिसका स्वभाव है, जो ज्ञान की अपेक्षा से सर्वव्यापक है, सिद्ध है, प्रबुद्ध है और सर्व कर्मबन्धनो से रहित है तथा जिसका ध्यान करने से हृदय के सर्व विकार दूर हो जाते हैं, वह देवाधिदेव मेरे हृदय मे सदा विराजमान रहे।



न स्पृश्यते कर्म-कलंक-दोषैः,
यो ध्वान्त-संघैरिब तिग्म-रश्मिः।
निरंजनं नित्यमनेकमेकम्,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये॥ १८॥

हिन्दी पद्य : स्पृष्ट होता न कलंक-पंक से,
जो, ध्वान्त-द्वारा नित सूर्य की ज्यों।
निरंजनी, एक अनेकरूप,
मैं प्राप्त होता शरणें उसी की॥ १८॥

अन्वयार्थ : ध्वान्तः-संघैः—	अन्धकार–समूह से
तिग्म-रश्मिः, इव—	जैसे सूर्य स्पृष्ट नही होता है
यः—	(उसी प्रकार) जो
कर्म-कलंक दोषैः—	कर्म–कलंक और रागादि दोषो से
न स्पृश्यते—	स्पृष्ट नही होता है
निरंजनम्—	निरंजन–निर्मल
नित्यम्—	नित्य
अनेकम्—	अनेक और
एकम्—	एक स्वरूप
तं—	उस
आप्तम्—	आप्त
देवम्—	देव की
(अहम्)—	मैं
शरणम्—	शरण
प्रपद्ये—	ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ— जैसे अन्धकार के समूह द्वारा सूर्य का स्पर्श नहीं किया जाता, उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म–कलंक और रागादि दोष जिसका स्पर्श भी नही कर सकते है, जो नित्य निरंजन स्वरूप है और जो एक रूप हो करके भी अनेकरूप है, मैं उसी आप्त देव की शरण को प्राप्त होता हूँ।



विभासते यत्र मरीचि–माली,
न विद्यमाने भुवनावभासी।
स्वात्म–स्थितं बोधमयप्रकाशं,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये॥ १९॥

हिन्दी पद्य : जिनेन्द्र ! तू लौकिक सूर्य-हीन,
प्रकाश तो भी तिहुँ लोक तेरा।
स्वात्मस्थ हो जो नित ज्ञान रूपी,
मै प्राप्त होता शरणें उसी की॥ १९॥

अन्वयार्थ : **भुवनावभासी—**	भुवन का प्रकाशक
मरीचिमाली—	सूर्य
यत्र—	जहाँ
विद्यमाने—	(आपके) विद्यमान रहने पर
न विभासते—	शोभा नहीं पाता
स्वात्म-स्थितम्—	ऐसे अपने आत्म-स्वरूप मे स्थित
बोधमय-प्रकाशम्—	ज्ञानमय प्रकाशवाले
तं आप्तं देवम्—	उस आप्तदेव की
शरणं प्रपद्ये—	मै शरण ग्रहण करता हूॅ।

भावार्थ— जिस देव के विद्यमान रहते हुए भुवन-प्रकाशक सूर्य शोभा को नही पाता है, जो अपने आत्मा में स्थित है और ज्ञानमयी प्रकाश वाला है, मै उसी आप्त देव की शरण को प्राप्त होता हूॅ।



विलोक्यमाने सति यत्र विश्वम्,
विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तम्।
शुद्धं शिव शान्तमनाद्यनन्तम्,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये॥ २०॥

हिन्दी पद्य : हॉ, देखके शान्त-स्वरूप तेरा,
देता दिखाई यह विश्व सारा।
शुद्धात्म जो आदि सु अन्त-हीन,
मै प्राप्त होता शरणें उसी की॥ २०॥

अन्वयार्थ : यत्र—	जिसके
विलोक्यमाने—	अवलोकन
सति—	करने पर
इदम्—	यह
विश्वम्—	समस्त विश्व
स्पष्टम्—	स्पष्ट रूप से
विविक्तम्—	पृथक्-पृथक्
विलोक्यते—	दिखाई देता है,
शुद्धम्—	उस शुद्ध
शिवम्—	शिव
शान्तम्—	शान्तस्वरूप और
अनाद्यनन्तम्—	आदि-अन्त से रहित
आप्तं, तं, देवम्—	आप्त देव की
शरणं प्रपद्ये—	मैं शरण को प्राप्त होता हूँ।

भावार्थ— जिसके अवलोकन करने पर यह सारा विश्व स्पष्ट और पृथक्-पृथक् दिखाई देता है, जो शुद्ध, शान्त, आदि-अन्त रहित और शिव-स्वरूप है, मैं उसी आप्त देव की शरण को प्राप्त होता हूँ।



येन क्षता मन्मथ-मान-मूर्च्छा—
विषाद-निद्रा-भय-शोक-चिन्ताः।
क्षय्योऽनलेनेव तरु-प्रपंच—
स्त देवमाप्त शरणं प्रपद्ये ॥ २१ ॥

हिन्दी पद्य : नाशे सभी काम-विकार मूर्च्छा,
विषाद निद्रा भय शोक चिन्ता।
दावाग्नि ज्यों वृक्ष-समूह नाशे,
लेता सहारा उस देव का मैं ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ :	**अनलेन—**	अग्नि के द्वारा
	तरु-प्रपंचः—	वृक्षों का समूह
	क्षय्यः इव—	जैसे क्षय (भस्म) कर दिया जाता है
	येन—	उसी प्रकार जिसके द्वारा
	मन्मथ-मान-मूर्च्छा—	काम, मान, मूर्च्छा, विपाद,
	विषाद-निद्रा-भय-शोक—	निद्रा, भय, शोक, चिन्ता आदि
	चिन्ता—	समस्त दोप
	क्षता—	क्षय कर दिये गये हैं
	तं आप्तं देवम्—	उस आप्त देव की, मैं
	शरणं प्रपद्ये—	शरण को प्राप्त होता हूँ।

भावार्थ— जिस प्रकार अग्नि के द्वारा वृक्षों का समूह क्षय को प्राप्त होता है उसी प्रकार जिसके द्वारा काम-विकार, मान, मूर्च्छा, विपाद, निद्रा, भय, शोक और सर्व प्रकार की चिन्ताएँ नष्ट कर दी गयी हैं, मैं उसी आप्त देव की शरण को प्राप्त होता हूँ।



न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी,
विधानतो नो फलको विनिर्मितः।
यतो निरस्ताक्ष-कपाय-विद्विपः,
सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः॥ २२॥

हिन्दी पद्य : माना नही आसन ध्यान का है,
धरा, कुशा, डाभ तृणादि को भी।
हे नाथ ! नाशे विषयादि जिससे,
कहा वही संस्तर शुद्ध तूने॥ २२॥

अन्वयार्थ : विधानतः— विधान रूप से समाधि का साधन
न संस्तरोऽश्मा— न संस्तर (आसन) है, न पाषाण है,
न तृणम्— न तृण-पुंज है
न मेदिनी— न पृथिवी है और
विनिर्मितः-फलकः— नहीं बनाया गया काष्ठ का फलक (चौकी पाटा) ही है।
यतः— क्योंकि
सुधीभिः— बुद्धिमन्तो के द्वारा
निरस्ताऽक्ष-कषाय— विषय-कषायरूपी
विद्विषः— शत्रुओं से रहित
सुनिर्मलः— निर्मल
आत्मा एव— आत्मा ही
मतः— (ध्यान का आसन) माना गया है।

भावार्थ— ध्यान का आसन न संस्तर है, न पाषाण है, न तृण है, न भूमि है और न काष्ठफलक (चौकी-पाटा) है किन्तु जिसके अन्तर् से विषय-कषाय रूप शत्रु दूर हो गये है उसी निर्मल आत्मा को ज्ञानी जनो ने ध्यान का आसन माना है।



न संस्तरो भद्र ! समाधि-साधनम्,
न लोक-पूजा न च सङ्घ-मेलनम्।
यतस्ततोऽध्यात्म-रतो भवाऽनिशम्,
विमुच्य सर्वामपि बाह्य-वासनाम्॥ २३ ॥

हिन्दी पद्य : न साथरा साधन है समाधि का,
न लोक-पूजा न च सङ्घ-एकता।
संसार की छोड कुवासनाएँ
अध्यात्म मे लीन रहो सदात्मन्॥ २३ ॥

अन्वयार्थ :	**भद्र !—**	हे भद्र !
	यतः—	क्योंकि
	न संस्तरः—	न संस्तर (आसन)
	न लोक-पूजा—	न लोकपूजा, और
	न च संघ-मेलनम्—	न संघ-सम्मेलन
	समाधि-साधनम्—	समाधि के साधन हैं
	ततः—	इसलिए
	सर्वामपि—	सर्व ही
	बाह्य-वासनाम्—	बाहरी वासनाओ को
	विमुच्य—	छोड़कर
	अनिशम्—	निरन्तर
	अध्यात्मरतः—	अध्यात्म में निरत
	भव—	रहो

भावार्थ— हे भद्र ! समाधि का साधन न संस्तर है, न लोकपूजा है और न संघ का मेला जुटाना है, इसलिए सभी बाहरी वासनाओ को छोडकर अपने अध्यात्म में निरन्तर निरत रहो।



न सन्ति वाह्या मम केचनार्था,
भवामि तेषां न कदाचनाऽहम्।
इत्थं विनिश्चित्य, विमुच्य बाह्य,
स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र ! मुक्त्यै॥ २४॥

हिन्दी पद्य : वाह्यार्थ मेरे कुछ भी नहीं है,
मैं भी कभी भी उनका नही हूँ।
यों चिन्तके वाह्य विचार छोड़ो,
मुक्त्यर्थ स्वात्मस्थित हो सदा ही॥ २४॥

अन्वयार्थ :	**केचन बाह्याः—**	कोई भी बाहरी
	अर्थाः—	पदार्थ
	मम—	मेर
	न सन्ति—	नही है,
	अहम्—	मैं भी
	तेषाम्—	उनका
	न कदाचन—	कदापि
	भवामि—	हूँ
	इत्थम्—	इस प्रकार
	विनिश्चित्य—	पक्का निश्चय करके
	बाह्यं विमुच्य—	बाह्य से सम्पर्क छोडकर
	भद्र !—	हे भद्र आत्मन् ।
	त्वम् सदा—	तुम सदा
	स्वस्थः भव—	अपनी आत्मा में स्थिर रहो

भावार्थ— कोई भी बाहरी पदार्थ मेरा नहीं हे और न मैं कभी उनका हूँ, ऐसा दृढ निश्चय कर हे भद्र पुरुष । बाह्य वस्तुओं को छोड़कर तू मुक्ति प्राप्ति के लिए सदा अपने आत्मा मे स्थिर रह।



आत्मानमात्मन्यवलोक्यमान—
स्त्व दर्शन-ज्ञान-मयो विशुद्धः।
एकाग्र-चित्त· खलु यत्र तत्र,
स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम्॥ २५॥

हिन्दी पद्य : तू आपमे आप समस्तदर्शी,
तृ दर्शन-ज्ञान-चरित्र-धारी।
एकाग्र हो चित्त जहाँ कहीं भी
पाता वही साधु समाधि नाम॥ २५॥

अन्वयार्थ :	**आत्मानम्—**	अपनी आत्मा को
	आत्मनि—	अपने आप में
	अवलोक्यमानः—	साक्षात् करते हुए
	त्वम्—	तुम
	दर्शन-ज्ञान-मयः—	अनन्त दर्शन-ज्ञानमय
	विशुद्धः—	विशुद्ध हो।
	खलु—	निश्चय से
	यत्र तत्र अपि—	जहाँ कहीं भी
	स्थितः—	स्थित
	एकाग्रचित्तः—	एकाग्र चित्त
	साधुः—	साधु
	समाधिम्—	समाधि को
	लभते—	प्राप्त करता है।

भावार्थ— हे आत्मन् ! तू अपने आत्मा में अपने आपका अवलोकन कर। तू दर्शन-ज्ञानमयी और विशुद्ध स्वभाव वाला है। इस प्रकार से एकाग्रचित्त होकर जहाँ कहीं भी साधु अवस्थित होता है, वहीं वह समाधि को प्राप्त कर लेता है।



एकः सदा शाश्वतिको ममाऽऽत्मा,
विनिर्मलः साधिगम-स्वभावः।
वहिर्भवा सन्त्यपरे समस्ताः,
न शाश्वताः कर्म-भवाः स्वकीयाः॥ २६ ॥

हिन्दी पद्य : आत्मा सदा है अविनाशि मेरा,
सर्वांग सिद्धान्त-स्वरूप ज्ञाता।
हैं सर्व ही अर्थ वहिःस्वरूप,
विभाव हैं कर्म-स्वरूप-जन्य॥ २६ ॥

अन्वयार्थ : ममः—	मेरा
आत्मा—	आत्मा
सदा एकः—	सदा एकाकी
शाश्वतिकः—	शाश्वत
विनिर्मलः—	निर्मल
साधिगम-स्वभावः—	अधिगम (ज्ञान) स्वभाव मे युक्त है,
अपरे—	अन्य
समस्ताः—	समस्त
बहिर्भवा—	वाहरी पदार्थ
कर्म-भवा—	कर्म-जनित है।
स्वकीयाः—	वे अपने (और)
शाश्वताः—	शाश्वत
न सन्ति—	नही है।

भावार्थ— मेरा आत्मा सदा एक और नित्यस्वरूप है। सर्व मलों से रहित और ज्ञान–स्वभावी है। उसके सिवाय और जितने भी वाहरी पदार्थ और राग–द्वेपादि हैं, वे सब कर्म जनित है और अशाश्वत हैं।



यस्याऽस्ति नैक्यं वपुपाऽपि सार्द्धं,
तस्याऽस्ति किं पुत्र-कलत्र-मित्रैः।
पृथक्कृते चर्मणि रोम-कूपाः,
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीर-मध्ये॥ २७॥

हिन्दी पद्य : शरीर से भी जिसका न ऐक्य है,
कहाँ कथा है फिर पुत्र-मित्र की।
पृथक् करो चर्म शरीर-पिंड से
निराश्रयी रोम कहाँ रहेंगे॥ २७॥

अन्वयार्थ : यस्य—	जिसका
वपुषा-अपि—	शरीर के भी
सार्द्धम्—	साथ
न ऐक्यम्—	ऐक्य नही है
तस्य—	उसका
पुत्र-कलत्र-मित्रै—	पुत्र, स्त्री और मित्रों के साथ
किम् (ऐक्यम्) अस्ति—	ऐक्य कैसे सम्भव है?
चर्मणि—	चर्म के
पृथक् कृते—	पृथक् कर देने पर
शरीर-मध्ये—	शरीर के मध्य मे
रोम-कूपाः—	रोम-कूप
हि—	निश्चय से
कुतः—	कैसे
तिष्ठन्ति—	रहेगे ?

भावार्थ— जिसका शरीर के साथ भी एकत्व नहीं है उसका तो पुत्र, स्त्री और मित्रों के साथ एकत्व कैसे सम्भव है। चर्म के शरीर से पृथक् कर देने पर रोम कूप (छिद्र) शरीर में कैसे रह सकते हैं ?



संयोगतो दुःखमनेक-भेदं,
यतोऽश्नुते जन्म-वने शरीरी।
ततस्त्रिधाऽसौ परिवर्जनीयो,
यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम्॥ २८॥

हिन्दी पद्य : संसार मे दुःख सदा अनेकों,
पाता यही जीव शरीर-योग से।
जो चाहते निर्वृति सौख्यकारी,
तो ये जगज्जाल समस्त छोड़ो॥ २८॥

अन्वयार्थ :	**यतः—**	क्योंकि
	शरीरी—	प्राणी
	जन्म-वने—	संसार रूपी वन में
	संयोगतः—	संयोग के कारण
	अनेकविधम्—	अनेक प्रकार के
	दुःखम्—	दुःख को
	अश्नुते—	पाता है।
	अतः—	इसलिए
	आत्मनीनाम्—	अपनी कल्याणकारिणी
	निर्वृतिम्—	मुक्ति को
	यियासुना—	प्राप्त करने की इच्छा वाले पुरुप को
	असौ—	वह सयोग
	त्रिधा—	तीनों प्रकार से
	परिवर्जनीयः—	परित्याग कर देना चाहिए

भावार्थ— बाह्य पदार्थो के संयोग से अर्थात् उनमे ममत्व भाव स्थापित करने से ही यह प्राणी भव-कानन मे अनेक प्रकार के दुःखो को पाता है इसलिए अपनी मुक्ति के इच्छुक जनो को चाहिए कि वे मन, वचन, काय से समस्त बाह्य पदार्थो के ममत्व का परित्याग करें।



सर्व निराकृत्य विकल्प-जालं,
ससार-कान्तार-निपात-हेतुम्।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो,
निलीयसे त्व परमात्म-तत्त्वे ॥ २९ ॥

हिन्दी पद्य : ससार-कान्तार-निपात-वाले,
विकल्प दुःख-प्रद सर्व छोडो।
समस्त से भिन्न लखो निजात्मा,
हो लीन आत्मन् ! परमात्म-तत्त्व मे ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ : **संसार-कान्तार-निपात**—संसार रूपी वन मे पतन के

हेतुम्—	कारणभूत
सर्वम्—	सभी
विकल्प-जालम्—	विकल्प-जाल को
निराकृत्य—	हटा करके
विविक्तम्—	एकमात्र
आत्मानम्—	आत्मा को
अवेक्ष्यमाणः—	देखते हुए
त्वम्—	तुम
परमात्म-तत्त्वे—	परमात्मतत्त्व में
निलीयसे—	लीन रहो

भावार्थ— संसार वन में परिभ्रमण कराने वाले सर्व विकल्प जालों को दूर करके एकमात्र सबसे भिन्न अपनी आत्मा को देखते हुए हे आत्मन् ! तुम परमात्मतत्त्व में लीन हो।



स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाऽशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥ ३०॥

हिन्दी पद्य : स्वयं किये कर्म सुपूर्वकाल में,
भला–बुरा वे फल नित्य देते।
जो ईश्वर–प्रेरित कर्म भोगें,
स्वकीय तो कर्म निरर्थ होवें॥ ३०॥

अन्वयार्थ : आत्मना—	अपने द्वारा
पुरा—	पहिले
यत् कर्म—	जो कर्म
स्वयम् कृतम्—	स्वयं किये गये हैं
तदीयम्—	उनका
शुभाऽशुभम् फलम्—	शुभ और अशुभ फल
स्फुटं—	स्पष्ट रूप से
लभते—	प्राप्त होता है
यदि—	यदि
परेण दत्तम्—	दूसरे के द्वारा दिया गया
लभते—	सुख-दुःख प्राप्त होता है
तदा—	तब
स्वयं कृतम् कर्म—	स्वयं के किये गये कर्म
निरर्थकम्—	निरर्थक हो जावेगे

भावार्थ— हे आत्मन्! जिस जीव ने पूर्वकाल मे जो कर्म स्वयं उपार्जित किये है वह उनके शुभ और अशुभ फल पाता है। यदि कोई दूसरे के द्वारा दिये गये शुभ या अशुभ फल को प्राप्त होने लगे तब तो अपने किये कर्म निरर्थक हो जायेगे।



निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो,
न कोऽपि कस्याऽपि ददाति किंचन।
विचारयन्नेवमनन्य-मानसः,
परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम्॥ ३१॥

हिन्दी पद्य : स्वकीय पूर्वार्जित कर्म छोडके,
कोई किसी को कुछ है न देता।
द्वितीय दाता, यह भाव मिथ्या,
छोड़ो यही सर्व कुभाव सारे॥ ३१॥

अन्वयार्थ :	**निजार्जितम्—**	अपने उपार्जित
	कर्म—	कर्म के
	विहाय—	सिवाय
	कोऽपि—	कोई भी अन्य पुरुप
	कस्याऽपि देहिनः—	किसी भी प्राणी को
	किंचन—	कुछ भी
	न ददाति—	नहीं देता है
	एवम्—	ऐसा
	विचारयन्—	विचारते हुए
	आत्मन्—	हे आत्मन् !
	परः—	दूसरा कोई
	ददाति—	देता है
	इति—	इस प्रकार की
	शेमुषीम् विमुच्य—	वुद्धि को छोड़कर
	अनन्य-मानसः—	एकाग्रचित्त हो

भावार्थ— अपने उपार्जित कर्मों को छोड़कर कोई भी प्राणी किसी भी प्राणी को कुछ भी सुख या दुःख नहीं देता है, ऐसा विचार करते हुए हे आत्मन् ! तू एकाग्रचित्त हो और दूसरा देता है, इस वुद्धि को छोड। इस प्रकार विचार करने से इष्ट-अनिष्ट प्राप्ति के निमित्त मात्र वनने वाले प्राणियों पर राग-द्वेप उत्पन्न नहीं होता।



यः परमात्माऽमितगति-वन्द्यः,
सर्व-विवक्तो भृशमनवद्यः।
शश्वदधीते मनसि लभन्ते,
मुक्ति-निकेतं विभव-वरं ते॥ ३२॥

हिन्दी पद्य : जो परमात्म अमितगति पूजा,
सर्व विविक्त सुखी गतदोपा।
नित्य सुध्याया मन मे जिसने,
विभवमयी पंचम गति पाई॥ ३२॥

अन्वयार्थ :

यैः—	जिन पुरुषो द्वारा
अमितगति-वन्द्यः—	अपरिमित ज्ञान वाले होने मे अथवा अमितगति द्वारा वन्दनीय ह
सर्व-विविक्तः—	जो सर्व कर्मविमुक्त है
भृशम् अनवद्यः—	अत्यन्त निर्दोप हे
परमात्मा—	ऐसा परमात्मा
मनसि—	मन मे
शश्वत्—	निरन्तर
अधीते—	चिन्तन किया जाता है
ते—	वे
विभव-वरम्—	परम वैभव वाले
मुक्ति-निकेतम्—	मुक्ति रूपी महल को
लभन्ते—	प्राप्त होते हैं

भावार्थ— जो परमात्मा अपरिमित ज्ञानी होने से अथवा अतिमगति (आचार्य) के द्वारा वन्दनीय है, सर्व पदार्थो से भिन्न ह ओंर पूर्ण निर्दोप है, उसका जो निरन्तर मन मे चिन्तन करते हैं वे पुरुप सर्वश्रेष्ठ वैभव वाले मोक्षमहल को प्राप्त करते हैं।



इति द्वात्रिंशता वृत्तैः परमात्मानमीक्षते।
योऽनन्य-गत-चेतस्को, यात्यसो पदमव्ययम्॥ ३३॥

हिन्दी पद्य · इन बत्तीस सुवृत्तो मे जो,
एक चित्त परमात्म जपे।
आत्मरूप को पाकर के वह
मोक्ष-सौख्य को नियत लहे॥ ३३॥

अन्वयार्थ : यः— जो

अनन्य-गत-चेतस्कः— एकाग्रचित्त होकर

इति-द्वात्रिंशता— इन बत्तीस

वृत्तैः— पद्यों से

परमात्मानम्— परमात्मा का

ईक्षते— दर्शन करता है

असौ— वह

अव्ययम्— अविनाशी

पदम्— शिवपद को

याति— प्राप्त होता है

भावार्थ— इस प्रकार उक्त ३२ छन्दों से जो एकाग्रचित्त होकर परमात्मा का चिन्तन करता है, वह अविनाशी शिवपद को प्राप्त होता है।



श्रेयः ! श्रियां मंगल-केलि सद्म,
नरेन्द्र-देवेन्द्र-नताङ्घ्रि-पद्म !
सर्वज्ञ ! सर्वातिशय-प्रधान !
चिरं जय ज्ञान-कला-निधान ! ॥ १ ॥

हिन्दी पद्य : सिद्धिश्री की मगलक्रीड़ा के हो अनुपम धाम,
तेरे चरण कमल मे करते इन्द्र-नरेन्द्र प्रणाम।
सचराचर के ज्ञाता भगवन् ! अतिशय सर्वप्रधान,
तेरी जय हो तेरी जय हो, केवलज्ञान-निधान॥ १ ॥

अन्वयार्थ :

श्रेयः श्रियां—	हे श्रेयस्कारी लक्ष्मी के
मंगल केलिसद्म—	मांगलिक क्रीड़ा के सदन !
नरेन्द्र-देवेन्द्र—	नरेन्द्रों और देवेन्द्रों से
नताङ्घ्रिपद्म्—	नमस्कृत चरणकमल वाले
सर्वज्ञ—	सर्वज्ञ !
सर्वातिशय-प्रधान—	सर्व अतिशयों से प्रधान
ज्ञानकला-निधान—	ज्ञान रूप सूर्य की कलाओं के निधान
चिरम्—	(आप) चिरकाल तक
जय—	जयवन्त रहें

भावार्थ— हे भगवन् ! आप कल्याणरूपी लक्ष्मी की मागलिक क्रीडा करने के स्थान है, मनुष्यो के और देवो के स्वामी आपके चरणो मे आकर नमस्कार करते है, आप सर्व वस्तुओ के ज्ञाता हैं, सर्व अतिशयो के धारक हैं और ज्ञानरूप सूर्य की कलाओ के भण्डार है, अतः आपको जय हो।

जगत्त्रयाऽऽधार ! कृपाऽवतार,
दुर्वार-संसार-विकार-वैद्य !
श्री वीतराग ! त्वयि मुग्धभावात्,
विज्ञ ! प्रभो ! विज्ञपयामि किंचित्॥ २॥

हिन्दी पद्य :

तीन जगत के शरण-प्रदाता, अतुल कृपा, अवतार,
इस दुनिया के प्रबल विकारों के विनाश-करतार।
यद्यपि ज्ञाता हो अशेष के, फिर भी मम अनुराग—
रहा कहलवा मुझसे किंचित् सुनिये देव विराग ! ॥ २॥

अन्वयार्थ :

जगत्त्रयाधार !—	हे तीन जगत् के आधार !
कृपावतार—	हे दया के अवतार !
दुर्वार-संसार—	इस अपार संसार के
विकार वैद्य—	विकारों के चिकित्सक !
श्री वीतराग !—	श्री वीतराग !
विज्ञ !—	सर्वज्ञ !
प्रभो !—	प्रभो !
त्वयि—	आपके सम्मुख
मुग्धभावात्—	अपने निश्छल भाव से
किंचित्—	(मैं) कुछ
विज्ञपयामि—	निवेदन करता हूँ

भावार्थ— हे भगवन् ! आप तीन लोक के आधार हैं, दया के अवतार हैं, संसार के असाध्य दुःखों को दूर करने में कुशाल वैद्य हैं और राग-द्वेष से रहित हैं, ऐसा जान कर मैं अपने हृदय के भावों को निश्छल हृदय से आपके सम्मुख प्रकट करता हूँ।

किं बाल-लीला-कलितो न बालः,
पित्रोः पुरो जल्पति निर्विकल्पः।
तथा यथार्थ कथयामि नाथ !
निजाशय सानुशयस्तवाऽग्रे॥ ३॥

हिन्दी पद्य :

बाल्यकाल की लीला वाला, बालक क्या न अनन्य,
अपने तात-मात के सन्मुख बकता है अविकल्प।
उसी भाँति मै अपना सच्चा आशय अपने आप,
रखता हूँ तेरे समक्ष यह करके पश्चात्ताप॥ ३॥

अन्वयार्थ :

बाललीलाकलितः—	बाल भाव की लीला से युक्त
बालः—	बालक
पित्रोः—	माता-पिता के
पुरः—	आगे
निर्विकल्पः (सन्)—	निर्विकल्प होकर
किम्—	क्या
न—	नही
जल्पति ?—	कहता है ?
नाथ !—	हे नाथ !
सानुशयः (अहम्)—	पश्चात्ताप-युक्त (मैं)
यथार्थम्—	यथार्थ
निजाशयम्—	अपने अभिप्राय को
तव—	आपके
अग्रे—	आगे
कथयामि—	कहता हूँ-

भावार्थ— हे स्वामिन् ! जिस प्रकार एक बालक अपने माता-पिता के सामने अपने मन की सभी बातों को बिना किसी लुकाव-दुराव के सरल भाव से कहता है, उसी प्रकार हे भगवन् ! आज मैं आपके सामने शुद्ध हृदय से जीवन की घटनाओं को और अपने दुष्कृतों को पश्चात्ताप के साथ कहता हूँ, सो सुनिये।



दत्तं न दानं, परि-शीलितं च—
न शालि शीलं, न तपोऽभितप्तम्।
शुभो न भावोऽप्यभवद् भवेऽस्मिन्,
विभो ! मया भ्रान्तमहो मुधैव ॥ ४ ॥

हिन्दी पद्य :

प्रभो ! न मैंने मंगलकारी दिया कभी है दान,
पाला मैंने कभी न निर्मल प्रबल शील भगवान् !
की न तपस्या, शुद्ध भावना भायी नहीं समर्थ,
इस भव में हा ! भ्रमण हो गया मेरा बिलकुल व्यर्थ ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ :	**विभो !**—	हे प्रभो !
	मया—	मैंने
	न—	न
	दानम्—	दान
	दत्तम्—	दिया
	न—	न
	शालि शीलम्—	उत्तम शील
	परिशीलितम्—	पालन किया
	न—	न

तपः—	तप
अभितप्तम्—	तपा और
न—	न
(मम)—	(मेरा कभी)
शुभः—	शुभ
भावः—	भाव
अपि—	भी
अभवत्—	हुआ
अस्मिन्—	इस
भवे—	भव मे
अहो—	अहो मैं
मुधा-एव—	व्यर्थ ही
भ्रान्तम्—	परिभ्रमण करता रहा

भावार्थ— हे भगवन् ! धन होने पर भी मेने न दान दिया, न शील धारण किया और न तपश्चरण ही किया, और तो क्या, कभी शुभ भावना तक भी नही भायी। हे प्रभो ! मैंने यह जन्म व्यर्थ ही गँवा दिया है।



दग्धोऽग्निना क्रोधमयेन, दष्टो—
दुष्टेन लोभाऽऽख्य-महोरगेण।
ग्रस्तोऽभिमानाऽजगरेण माया—
जालेन बद्धोऽस्मि, कथ भजे त्वाम् ॥ ५ ॥

हिन्दी पद्य :

क्रोध-अग्नि की लपटों ने है, मुझे जलाया खूब
लोभ-व्याल ने निर्दयता से डसा गया मैं डूब।
अहंकार के अजगर ने भी निगल लिया भगवान्
माया के भी फँसा जाल मे, कैसे करता ध्यान ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ :	(अहम्)—	मैं
	क्रोधमयेन—	क्रोध रूपी
	अग्निना—	अग्नि से
	दग्धः—	जला
	दुष्टेन—	दुष्ट
	लोभाख्यमहोरगेण—	लोभ रूपी महासर्प से
	दष्टः—	डसा गया
	अभिमानाऽजगरेण—	अभिमान रूपी अजगर से
	ग्रस्तः—	निगला गया, और
	माया-जालेन—	मायारूपी जाल में
	बद्धः—	बाँधा गया
	अस्मि—	हूँ। (अब)
	कथम्—	कैसे
	त्वाम्—	आपका
	भजे—	भजन करूँ ?

भावार्थ— हे भगवन् ! क्रोधरूपी अग्नि ने जलाकर मुझे भस्म कर दिया है। लोभरूपी काले साँप ने मुझे डस लिया है। मानरूपी अजगर ने मुझे निगल लिया है और माया के जाल में तो मैं बुरी तरह फँसा हुआ हूँ। अब कैसे मैं आपकी सेवा-आराधना करूँ ? कुछ समझ मे नही अ ा।



कृतं मयाऽमुत्र हितं न चेह,
लोकेऽपि लोकेश ! सुख न मेऽभूत्।
अस्मादृशां केवलमेव जन्म,
जिनेश ! जज्ञे भव-पूरणाय॥ ६॥

हिन्दी पद्य :

इस लोक या परलोक में कुछ भी न हित मैंने किया,
अतएव हे जिनदेव ! जग का भी न सुख मैंने लिया।
मेरे सदृश सब प्राणियों का जन्म ही अकृतार्थ है,
या एक भव की पूर्ति होना नाथ ! इसका अर्थ है ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ :

लोकेश !—	हे लोक के स्वामिन् !
मया—	मैंने
अमुत्र च इह—	परलोक और इस लोक में
हितम्—	(अपना) हित
न कृतम्—	नही किया
लोकेऽपि—	इस लोक में भी
मे—	मुझे कुछ
सुखम्—	सुख
न अभूत्—	नहीं हुआ
जिनेश !—	हे जिनेश्वर
अस्मादृशाम्—	हमारे जैसे लोगो का
जन्म—	जन्म
केवलम्—	केवल
भव-पूरणाय एव—	भवो की पूर्ति के लिये
जज्ञे—	हुआ

भावार्थ— हे भगवन् ! मैंने इस भव या पर-भव मे कुछ भी पुण्य नही किया, जिससे मुझे इस ससार मे कुछ भी सुख नही मिला। ऐसा दुर्लभ नरजन्म पाकर के भी मै कुछ भी आत्म-हित नही कर सका। केवल संसार-बढाने के लिए ही या भवो को पूरा करने के लिए ही मेरा यह जन्म हुआ, ऐसा मै मानता हूँ।

मन्ये मनो यन्न मनोज्ञ-वृत्त !
त्वदास्य-पीयूष-मयूख-लाभात्।
द्रुतं महाऽऽनन्द-रसं, कठोर—
यस्मादृशां देव ! तदश्मतोऽपि॥ ७॥

हिन्दी पद्य :

मुख-चन्द्र से तेरे प्रशम-पीयूप की किरणें बही,
फिर भी हृदय में देव ! मेरे आर्द्रता आई नही।
जिनवर ! नहीं हा ! हो सका यह चित्त हर्प-विभोर है,
ज्ञात होता है उपल से हृदय अधिक कठोर है॥ ७॥

अन्वयार्थ :

मनोज्ञवृत !—	हे सुन्दर चारित्र-धारक भगवन् !
यद् मनः (मे)—	मेरा मन
त्वदास्य-पीयूष—	आपके मुखचन्द्र की अमृतमयी
मयूख-लाभात्—	किरणों के लाभ से
महानन्द-रसम्—	महान् आनन्दरूप रस का
न द्रुतम्—	पान नही किया
देव !—	हे देव !
मन्ये—	मैं ऐसा मानता हूँ कि
अस्मादृशाम्—	हमारे जैसे लोगों का
(मनः)—	(हृदय)
अश्मतोऽपि—	पत्थर से भी
कठोरतम्—	कठोर है

भावार्थ— हे नाथ ! सचमुच आपके मुखचन्द्र मे अमृतमयी किरणे झर रही हैं, तो भी हे प्रभो ! मै उनका पान करके महान आत्मिक आनन्द-रस का पान नही कर सका। ज्ञात होता है कि मेरा हृदय पाषाण से भी अधिक कठोर है।

त्वत्तः सुःदुष्प्राप्यमिदं मयाऽऽप्तं,
रत्न-त्रयं भूरि-भव-भ्रमेण।
प्रमाद-निद्रा-वशतो गतं तत्,
कस्याऽग्रतो नायक ! पूत्करोमि ॥ ८ ॥

हिन्दी पद्य : नर नारक तिर्यच भवों मे भ्रमण किया पर्याप्त,
दुर्लभ रत्नत्रय तुमसे तव कर पाया था प्राप्त।
किन्तु उसे निद्रा-प्रमाद मे गॅवा दिया बेकार,
हे नायक ! अव किसके आगे जाकर करूँ पुकार ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ :

नायक !—	हे स्वामिन् !
मया—	मैंने
भूरि—	वहुत
भव-भ्रमेण—	भव-भ्रमण करते हुए
सुदुष्प्राप्यम्—	अत्यन्त दुष्प्राप्य
इदं रत्नत्रयम्—	यह रत्नत्रय धन
त्वत्तः—	आपसे
आप्तम्—	प्राप्त किया
तत्—	उसे मैंने
प्रमाद-निद्रा-वशतः—	प्रमाद और निद्रा के वश में
गतम्—	व्यर्थ गवा दिया
कस्य—	किसके
अग्रतः—	आगे
पूत्करोमि—	पुकार करूँ

भावार्थ— हे भगवन् ! कितने ही जन्म-जन्मान्तरों मे परिभ्रमण करते हुए आपके प्रसाद से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूपी रत्नत्रय धर्म की प्राप्ति हुई, किन्तु हे नाथ ! मैंने प्रमाद और निद्रा के अधीन होकर उस रत्नत्रय को यों ही खो दिया है। हे प्रभो ! अब मैं यह पुकार किसके सामने करूँ ?

वैराग्य-रंगः पर-वञ्चनाय,
धर्मोपदेशो जन-रञ्जनाय।
वादाय विद्याऽध्ययनं च मेऽभूत,
कियद् ब्रुवे हास्य-करं स्वमीश॥ ९॥

हिन्दी पद्य : औरों को ठगने को पहना वैरागी का वेश,
राजी करने अन्य जनों को किया धर्म-उपदेश।
विद्या का अध्ययन किया तो चढ़ा वाद का भूत,
कहूँ कहाँ तक अपनी प्रभुवर ! हास्यास्पद करतूत॥ ९॥

अन्वयार्थ :

ईश !—	हे जगदीश !
मे—	मेरा
वैराग्य-रंगः—	वैराग्य का रंग
पर-वंचनाय—	दूसरों को ठगने के लिए हुआ
धर्मोपदेशः—	धर्म का उपदेश
जन-रंजनाय—	लोगो के मनोरंजन के लिए हुआ
च—	और
विद्याध्ययनम्—	विद्या का अध्ययन
वादाय—	वाद-विवाद के लिए
अभूत्—	हुआ
स्वम्—	इस प्रकार अपने
हास्य-करम्—	हँसी करने वाले
कियत्—	कितने कार्यो को
ब्रुवे—	कहूँ ?

भावार्थ— हे भगवन् ! मैंने विरागी साधु का भेप धारण किया, पर आत्म-कल्याण के लिए नहीं, किन्तु दूसरो को ठगने के लिए किया।

मैंने धर्म का उपदेश केवल लोगो के मनोरंजन करने के लिए दिया और विद्या का अभ्यास भी दूसरों को वाद–विवाद में हराने के लिए किया। इस प्रकार मैं अपनी हास्यकारक कितनी करतूतें कहूँ ?



परापवादेन मुख सदोषं,
नेत्रं परस्त्री–जन–वीक्षणेन।
चेतः पराऽपाय–विचिन्तनेन,
कृतं भविष्यामि कथं विभोऽहम्॥ १०॥

हिन्दी पद्य : पर–निन्दा कर मैंने अपना आनन किया सदोप,
पर–नारी लखने से लोचन हुए दोप के कोप।
मनसे सोचा है–औंरो का होवे नाश अपार,
हाय, हाय ! अब कैसे होगा, इस पापी का निस्तार॥ १०॥

अन्वयार्थ :

(मे) मुखम्—	मेरा मुख
परापवादेन—	दूसरों की निन्दा करने से
नेत्रम्—	नेत्र
परस्त्रीजन बीक्षणेन—	परस्त्री जनो के अवलोकन से
चेतः—	और चित्त
परापायविचिन्तनेन—	दूसरों का बुरा विचार करने से
सदोषम् (जातम्)—	सदोष है
अहम्—	(अब) मैं
विभो !—	हे प्रभो !
कथम्—	कैसे
कृतम्—	कृतार्थ
भविष्यामि—	होऊँगा ?

भावार्थ— हे भगवन् ! दूसरों का अपवाद (बदनामी) करके मैंने अपना मुख सदोष किया है, पर-स्त्रियों को बुरी दृष्टि से देख-कर अपने नेत्र कलुषित किये हैं और पर-जनों का बुरा विचार कर अपने मन को दूषित किया है। हे नाथ ! ये सब पाप मेरे हृदय में शल्य से चुभ रहे हैं। इनसे मेरा बेड़ा कैसे पार होगा ?



विडम्बितं यत् स्मर-घस्मरार्ति—
दशा-वशात् स्वं विषयान्धलेन।
प्रकाशित तद् भवतो ह्रियैव,
सर्वज्ञ ! सर्व स्वयमेव वेत्सि॥ ११॥

हिन्दी पद्य : कामदेव ने मुझ पर भगवन् ! भीषण किये प्रहार,
विषय-अन्ध होकर मैंने तब सेये जो आचार।
हे सर्वज्ञ ! सर्वदर्शिन् ! वे सब हैं तुमको ज्ञात,
किन्तु लाज के वश होकर ही मैंने कह दी बात॥ ११॥

अन्वयार्थ—

विषयान्धलेन (मया)—	विषयान्ध होकर मैंने
स्मर-घस्मरार्ति—	कामदेव से पीड़ित
दशावशात्—	दशा के वश से
यत् स्वम्—	जो स्वयम्
विडम्बितम्—	विडम्बना की है
तत्—	वह
ह्रियैव—	लज्जित होकर ही
भवतः—	आपके सामने
प्रकाशितम्—	प्रकाशित की है
सर्वज्ञ (त्वम्)—	हे सर्वज्ञ देव ! आप
सर्वम्—	सब
स्वयमेव—	स्वयं ही
वेत्सि—	जानते हैं

भावार्थ— हे भगवन् ! विपयो मे अन्ध होकर काम-विकारो के वश से मैंने अनेक विडम्बनाऍं की है, उन्हे यद्यपि आप जानते हैं, फिर भी मैं लज्जित होता हुआ आपके सामने प्रकाशित कर रहा हूँ।



ध्वस्तोऽन्य-मन्त्रैः परमेष्ठिमन्त्रः,
कुशास्त्र-वाक्यैर्निहताऽऽगमोक्तिः।
कर्तुं वृथा कर्म कुदेव-सगा—
दवाछि ही नाथ ! मति-भ्रमो मे ॥ १२ ॥

हिन्दी पद्य : मिथ्या मन्त्रो-तन्त्रों मे फॅस, नही जपा नवकार,
मिथ्याश्रुत को शिरोधार्य कर, खोया आगमसार।
मिथ्या कर्म किये है मेंने, कर कुदेव का साथ,
यह मेरी मिथ्या मति का ही, हे विपाक हे नाथ ! ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ :

(मया)—	मैंने
अन्यमन्त्रैः—	अन्य कुमन्त्रो से
परमेष्ठि-मन्त्रः—	परमेष्ठि-मन्त्र-नवकार मन्त्र
ध्वस्तः—	विध्वस्त किया
कुशास्त्र-वाक्यैः—	कुशास्त्रो के वाक्यो मे
आगमोक्ति—	जिनागम की उक्तियॉं
निहता—	विनष्ट की
कुदेव-संगात्—	कुदेवो के सग मे
वृथा-कर्म—	व्यर्थ कार्य
कर्त्तुम्—	करने की
अवांछि—	वाछा की
नाथ!—	हे नाथ! ऐसा
मे—	मेरा
ही मति-भमः (जातः)—	मतिभम हुआ

भावार्थ— हे भगवन् ! अनादि सिद्ध नवकार मन्त्र के प्राप्त होने पर भी मैंने मारण-उच्चाटन आदि कुमन्त्रों में फँस कर उसका ध्वंस किया और अन्य कुशास्त्रो को मानकर सच्चे जिनागम के महत्त्व को घटाया तथा आप जैसे वीतरागी निर्दोष देव के मिलने पर भी मैंने अन्य रागी-द्वेषी कुदेवों की सेवा-भक्ति की। हाय-हाय ! मेरी बुद्धि में ऐसा विभ्रम हो गया, इसका मुझे बहुत दुःख है और मैं धिक्कार का पात्र हूँ।



विमुच्य दृग्-लक्ष्य-गतं भवन्तं,
ध्याता मया मूढ-धिया हृदन्तः।
कटाक्ष-वक्षोज-गभीरनाभी—
कटी-तटीयाः, सुदृशा विलासाः॥ १३ ॥

हिन्दी पद्य : आप दृगों के सन्मुख आये, तो भी त्यागे देव
किन्तु मूढमति होकर मैंने हा ! देखे स्वयमेव।
मृगनैनी के पीन पयोधर, तथा नाभि गम्भीर,
तिरछे नैन, कमर पतली-सी, हास्य विलास अधीर ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ :

दृग्-लक्ष्य-गतम्—	दृष्टिगोचर हुए
भवन्तम्—	आपको
विमुच्य—	छोड़कर
मूढ-धिया—	मूढबुद्धि
मया—	मैंने
हृदन्तः—	हृदय के भीतर
सुदृशाम्—	मृगनयनी स्त्रियों के नेत्र
कटाक्ष—	कटाक्ष
वक्षोज—	स्तन

गभीरनाभी—	गहरी नाभि और
कटी-तटीया—	पतली कमर को
विलासाः—	उनके हाव-भाव-विलासो को
ध्याता—	ध्याया

भावार्थ— हे भगवन् ! आप जैसे सुदेव के दृष्टिगत होने पर भी मैंने काम के वश होकर सुन्दर नेत्रों वाली स्त्रियो के तिरछे कटाक्षों को, कुम्भ समान स्तनों को और पतली-पतली कमर को देख-देखकर नित्य कामदेव की ही आराधना की। हे प्रभो ! मुझ पापी को धिक्कार है।



लोलेक्षणा-वक्त्र-निरीक्षणेन,
यो मानसे राग-लवो विलग्नः।
न शुद्ध-सिद्धान्त-पयोधि-मध्ये,
धौतोऽप्यगात्, तारक ! कारण किम्॥ १४॥

हिन्दी पद्य : चपल लोचनाओ के मुख-अवलोकन से सर्वेश,
मानस-पट पर अंकित है जो रागभाव लव-लेश।
विमल शास्त्र-सागर के जल से धोया उसे पछार,
किन्तु न छूट सका है कहिये, क्या कारण अविकार॥ १४॥

अन्वयार्थ :

(मम) मानसे—	मेरे मन मे
लोलेक्षणा—	चंचल नेत्रो वाली स्त्रियों के
वक्त्र-निरीक्षणेन—	मुखो को देखने से
यः राग-लवः—	जो राग-भाव
विलग्नः—	संलग्न हो गया है
(स) शुद्ध सिद्धान्त—	वह शुद्ध सिद्धान्त रूपी
पयोधि-मध्ये—	सागर मे

धौतः अपि—	धोया तो भी
न अगात्—	नहीं गया
तारक—	हे तरण-तारणहार
किं कारणं (तत्र)—	इसमे क्या कारण है ?

भावार्थ— हे भगवन् ! सुन्दर एवं चंचल मृगनयनी स्त्रियो के मुखों को देखकर मेरे मन में जो उनके प्रति रागभाव का अंश लग गया है, उसे मैंने जैन सिद्धान्त रूपी सागर के मध्य मे डुबकी लगाकर धोने का प्रयत्न किया, पर वह नही धुल सका। इसका क्या कारण है ?



अंगं न चंगं न गणो गु[illegible],
न निर्मलः कोऽपि कला-विलासः।
स्फुरत्प्रभा न प्रभुता च काऽपि,
तथाऽप्यहकार-कदर्थितोऽहम्॥ १५ ॥

हिन्दी पद्य : देह नहीं है सुन्दर मेरी, नहीं सुगुण-आगार,
निर्मल कला नही है मुझमें, कान्ति न किसी प्रकार।
वैभव का है कहाँ ठिकाना, हे जिनेन्द्र ! भरपूर,
फिर भी हा ! हो रहा सदा मैं प्रबल गर्व से चूर॥ १५ ॥

अन्वयार्थ :

(मम) अंगम्—	मेरा शरीर
न चंगम्—	सुन्दर एवं स्वस्थ नहीं है
(मयि) गुणानाम्—	मुझमे गुणो का
गणो न—	समूह भी नहीं है
कोऽपि—	और कोई भी
निर्मलः—	निर्मल-निर्दोप
कला-विलासः न—	कला तथा विज्ञान नही है

च— तथा
का अपि— कोई
स्फुरत्प्रभा— स्फुरायमान प्रभावशाली
प्रभुता न— प्रभुता भी नही है
तथापि— तो भी
अहम्— मै
अहंकार— अहंकार से
कदर्थितः— पीड़ित हो रहा हूँ।

भावार्थ— हे भगवन् ! मै शरीर से सुन्दर और बलिष्ठ नही हूँ और न मुझ मे कोई गुण ही है, मुझमे किसी प्रकार का बुद्धि-वभव भी नही है और न कोई प्रतिभा या प्रभुता ही है। फिर भी मै अहकार मे फूल रहा हूँ।



आयुर्गलत्याशु न पाप-बुद्धिः,
गत वयो नो विषयाऽभिलापः।
यत्नश्च भैपज्य-विधौ न धर्मे,
स्वामिन् ! महा-मोह-विडम्बना मे ॥ १६ ॥

हिन्दी पद्य : जीवन बीता, किन्तु हुआ है नही कुमति का नाश,
आयु गई, पर गई न स्वामिन् ! विषयो की अभिलाष।
धर्माराधन त्याग किया है औषध का उपचार
हाय-हाय ! यह प्रबल मोह है कैसा घोर अपार ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ : आयु — मेरी आयु
आशु— शीघ्रता से
गलति— गल रही है

(परन्तु) न पापबुद्धिः—	परन्तु पापबुद्धि नहीं गल रही है
वयः—	उम्र
गतम्—	बीत रही है
(परन्तु) नो विषयाऽ—	किन्तु विषयों की अभिलाषा
भिलाषः—	नहीं गई है
भैषज्यविधौ—	औषधि-सेवन में
(मया) यत्नः (कृतः)—	मैंने यत्न किया
(परन्तु) न धर्मे—	परन्तु धर्म-सेवन में नहीं किया
स्वामिन् !—	हे स्वामिन् !
(इयम्) मे—	मेरी यह
मोहविडम्बना—	बड़ी मोह-विडम्बना है

भावार्थ— मेरी आयु प्रतिक्षण गल-गलकर कम हो रही है, पर पाप-बुद्धि नहीं घट रही है। मेरी अवस्था बुढ़ापे से जर्जरित हो रही है, परन्तु विषयों के सेवन की इच्छा बिल्कुल कम नहीं हो रही है। मैं जवान होने के लिए नित्य नयी-नयी औषधियों का सेवन करने के प्रयत्न में लगा रहता हूँ, परन्तु धर्मसेवन का विचार भी मन में नहीं आता है। हे भगवन् ! यह सब महामोह की विडम्बना ही है।



नाऽऽत्मा, न पुण्यं न भवो न पापम्,
मया विटानां-कटुगीरपीयम्।
अधारि कर्णे, त्वयि केवलाऽर्के,
परिस्फुटे सत्यपि देव ! धिग् माम्॥ १७॥

हिन्दी पद्य : आत्मा का अस्तित्व नहीं है, नहीं पुण्य का काम,
लोक और परलोक नहीं है, नहीं पाप का नाम।
प्रभो ! आपका चमक रहा था केवलज्ञानालोक,
फिर भी धूर्त जनों की वाणी यह मानी, हा ! शोक॥ १७॥

अन्वयार्थ : त्वयि—	आप जैसे
केवलार्के—	केवलज्ञानरूप सूर्य
परिस्फुटे—	प्रकाशमान
सत्यपि (सति-अपि)—	होने पर भी
मया—	मैंने
न आत्मा—	न आत्मा है
न पुण्यम्—	न पुण्य हैं
न भवः—	न संसार है
न पापम्—	न पाप है
इयम्—	ऐसी
विटानाम्—	धूर्तो और नास्तिको को
कटुगीः—	खोटी वाणी
अपि—	भी
कर्णे—	अपने कानो मे
अधारि—	धारण की
माम्—	मुझे
धिक्—	धिक्कार है

भावार्थ— हे भगवन् ! चेतन-जड़, पुण्य-पाप और लोक-परलोक आदि सब अनादि-अनिधन और स्वयसिद्ध है, ऐसी आपकी दिव्य देशना होते हुए भी इनके विरुद्ध धूर्तो और नास्तिको की बातो को बडे ध्यान से सुना और उन्हे सत्य माना। आप जैसे प्रकाशमान सूर्य के होते हुए और पुण्य-पाप, लोक-परलोक का स्वयं अनुभव करते हुए भी मेने इन सबका अभाव स्वीकार किया, मुझे धिक्कार है।



न देव-पूजा न च पात्र-पूजा,
न श्राद्ध-धर्मश्च न साधु-धर्मः।
लब्ध्वाऽपि मानुष्यमिदं समस्तं,
कृतं मयाऽरण्य-विलाप-तुल्यम्॥ १८॥

हिन्दी पद्य : जिनवर की पूजा न कभी की, नहिं सुपात्र-सत्कार,
श्रावक का, या संयत का ही किया न धर्माचार।
दुर्लभ मानव भव भी पाया अतिशय पुण्य प्रताप,
किन्तु गँवाया उसे वृथा ही मानो वन्य-विलाप॥ १८॥

अन्वयार्थ :

न देव-पूजा (कृता)— मैंने न देव-पूजा की
न पात्र-पूजा (कृता)— न कभी पात्रों की ही भक्ति की
न श्राद्ध-धर्मः— न श्रावकधर्म पाला
न साधु-धर्मः— और न साधुधर्म ही धारण किया
इदम्— यह
मानुष्यम्— मनुष्यजन्म
लब्ध्वा अपि— पाकर भी
मया— मैंने
समस्तम्— समस्त कार्य
अरण्य-विलाप-तुल्यम्— अरण्य-रोदन के समान ही
कृतम्— किये हैं

भावार्थ— हे भगवन् ! इस जन्म में मनुष्यभव को पाकर के भी न कभी आप जैसे वीतरागी देवो की पूजा ही की, न सुपात्रों का आदर-सत्कार करके उन्हें दान ही दिया, न मैंने श्रावकधर्म का पालन किया और न साधुधर्म की ही आराधना की। हे नाथ ! जैसे कोई वन मे रोवे, तो उसका रोना कौन सुनता है ? वह व्यर्थ ही जाता है। उसी प्रकार मैंने सभी निरर्थक कार्य करके अपने जीवन को व्यर्थ गँवा दिया है।

चक्रे मयाऽसत्स्वपि काम-धेनु—
कल्पद्रु-चिन्तामणिषु स्पृहार्तिः।
न जैनधर्मे स्फुट-शर्मदेऽपि,
जिनेश ! मे पश्य विमूढ-भावम्॥ १९॥

हिन्दी पद्य : जो ह असत् न जिनका होता हमे कभी प्रत्यक्ष,
ये ही चाहे चिन्तामणि अरु कामधेनु सुरवृक्ष।
हे जिनेश ! यह जैनधर्म है सुखदाता निर्बाध,
उसे न चाहा देव ! देखिये केरा मौढ्य अगाध॥ १९॥

अन्वयार्थ :

मया—	मैंने
काम-धेनु—	कामधेनु
कल्पद्रु—	कल्पवृक्ष और
चिन्तामणिषु—	चिन्तामणि के
असत्सु अपि—	नही होने पर भी (उनके पाने की)
स्पृहार्तिः—	इनकी इच्छा
चक्रे—	की, और
स्फुट-शर्मदेऽपि—	प्रकट ही सुखप्रद होने पर भी
जैनधर्मे—	जैनधर्म को प्राप्त करने की
न (चक्रे)—	इच्छा नही की
जिनेश !—	हे जिनेश (आप)
मे—	मेरी
विमूढ-भावम्—	मूर्खता को
पश्य—	देखें

भावार्थ— ससार मे जिनका कहीं अस्तित्व नही केवल नाम ही नाम सुना जाता है, ऐसे कामधेनु कल्पवृक्ष और चिन्तामणि रत्न इत्यादि

पदार्थों के पाने की सदा इच्छा करता रहा। किन्तु हे नाथ ! संसार में सच्चे सुख को देने वाले इस पवित्र जैनधर्म को पाने का कभी विचार तक भी नहीं किया। यह मेरी कितनी अज्ञानता है ?



सद्भोग-लीला, न च रोग-कीला,
धनागमो, नो निधनाऽगमश्च।
दारा न कारा नरकस्य चित्ते,
व्यचिन्ति नित्यं मयकाऽधमेन॥ २०॥

हिन्दी पद्य : चिन्तन किया सदा भोगों का, कभी न सोचे रोग,
हो धन-अर्जन मे निमग्न, नहिं लखा मृत्यु-सयोग।
कामिनियों की रही कामना, कुत्सित सदा विचार,
नहीं अधम को दिखा, नरक का भीपण कारागार॥ २०॥

अन्वयार्थ :

मयका (मया)— मुझ
अधमेन— अधम ने
नित्यम्— नित्य ही
चित्ते— चित्त में
सद्भोगलीला— भोग-लीला का तो विचार किया
न च रोगकीला— पर ये भोग रोगों के घर हैं, यह विचार कभी नहीं किया।
धनागमः— धन-उपार्जन का तो विचार किया
न च निधनागमः— पर निधन-मृत्यु का विचार नहीं किया
दाराः— स्त्रियों के संसर्ग का विचार तो किया
न— परन्तु ये
नरकस्य— नरक की
काराः— कारागृह हैं, ऐसा
न व्यचिन्ति— विचार नहीं किया

भावार्थ— हे भगवन् ! मैंने अपने मन में भोग-विलास का ही विचार किया, किन्तु ये भोग रोगो के कारण हैं, ऐसा विचार कभी नहीं किया। मैंने धन कमाने का निरन्तर विचार किया, किन्तु मौत के आने का कभी विचार नहीं किया। स्त्रियों के रूप-रंग का तो विचार किया, किन्तु ये नरक-कारागृह की कारण हैं, इसका मुझ मूर्ख ने कभी लेशमात्र भी विचार नहीं किया और मधुबिन्दु की आशा मे सव कुछ भूल गया।



स्थितं न साधोर्हृदि साधु-वृत्तात्,
परोपकारान्न यशोऽर्जितं च।
कृत न तीर्थोद्धरणादि-कृत्य,
मया मुधा हारितमेव जन्म ॥ २१ ॥

हिन्दी पद्य : सदाचार से सुजनो के मन मे न हुआ आसीन,
परोपकार कर यशोराशि भी पाई नही प्रवीन।
तीर्थोद्धार आदि कृत्यो को किया नही लवलेश,
हाय ! अमूल्य मनुज-जीवन यह निष्फल गया जिनेश ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ :

साधोः—	साधु जनो के
हृदि—	हृदय मे
साधु-वृत्तात्—	उत्तम आचरण करके
न स्थितम्—	स्थान प्राप्त नहीं किया
परोपकारात्—	परोपकार करके
यशः—	यश
न अर्जितम्—	उपार्जन नहीं किया
च—	और
तीर्थोद्धरणादि-कृत्यम्—	तीर्थ का उद्धार आदि कार्य भी

न कृतम्—	नहीं किये। (इस प्रकार)
मया—	मैंने
जन्म—	जन्म
मुधा-एव—	व्यर्थ ही
हारितम्—	हार दिया

भावार्थ— हे भगवन् ! बुद्धि होते हुए भी मैंने अपने सद् आचरण से सज्जन-सन्तजनों के हृदय में स्थान प्राप्त नहीं किया, परोपकार करके यश भी उपार्जन नहीं किया धर्म-तीर्थ का उद्धार करके पुण्य का संचय भी नहीं किया। हाय-हाय ! मैंने अपना जन्म यों ही गँवा दिया है।



वैराग्य-रंगो न गुरूदितेषु,
न दुर्जनानां वचनेषु शान्तिः।
नाऽध्यात्म-लेशो मम कोऽपि देव,
तार्यः कथंकारमयं भवाब्धिः ॥ २२ ॥

हिन्दी पद्य : सद्गुरु की सुन्दर शिक्षा से भी न हुआ वैराग,
दुर्जन के कटु-भाषण से ही दिल में जलती आग।
आध्यात्मिकता जरा न आई मुझमें किसी प्रकार,
देव-देव ! कैसे पाऊँगा भव-सागर का पार ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ :

गुरूदितेषु—	गुरु जनों के वचन सुनने पर भी
न वैराग्य-रंगः—	मुझे वैराग्य का रंग नहीं चढ़ा,
दुर्जनानाम्—	दुर्जनों के
वचनेषु—	वचनों से भी
न शान्तिः—	शान्ति नहीं मिली
मम कोऽपि—	मेरे भीतर कुछ भी

न अध्यात्म-लेशः—	अध्यात्म का लेश भी नहीं आया
देव !—	हे देव !
अयम्—	यह
भवाब्धि—	भव-सागर
कथंकारम्—	किस प्रकार से
तार्यः—	पार कर सकूँगा ?

भावार्थ— हे भगवन् ! गुरुजनों की वाणी सुनने पर भी मुझ पर वैराग्य का कुछ भी रंग नहीं चढ़ा तो फिर दुर्जनों के वाक्यों से तो शान्ति प्राप्त होती ही कैसे ? मुझे अध्यात्म का लेश भी आज तक प्राप्त नहीं हुआ। अब हे स्वामिन् ! आप ही बताइये कि संसार-सागर किस प्रकार से पार किया जा सकेगा ?



पूर्वेभवेऽकारि मया न पुण्य—
मागामि-जन्मन्यपि नो करिष्ये।
यदीदृशोऽहं मम तेन नष्टा,
भूतोद्भवद्भावि- भवत्रयीश ॥ २३ ॥

हिन्दी पद्य : पुण्य-हीन बीता है मेरा, पूर्व जन्म भगवान,
यह भव भी यों बीत रहा है प्रंबल पाप की खान।
फिर आगामी भव का कैसे होगा देव ! सुधार,
अहो कष्ट है ! तीनों ही भव गँवा दिये बेकार॥ २३ ॥

अन्वयार्थ :	**मया—**	मैंने
	पूर्वे—	पूर्व
	भवे—	भव में
	पुण्यम्—	पुण्य

न अकारि—	नहीं किया और
आगामि-जन्मनि अपि—	आगामी जन्म में भी
नो करिष्ये—	नहीं कर सकूँगा
यदि—	यदि
ईदृशः अहम्—	ऐसा मैं हूँ तो
ईश—	हे ईश !
तेन—	उससे
मम—	मेरे
भूतोद्भवद्-भावि—	भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीनों
भव-त्रयी—	ही भव
नष्टा—	नष्ट हो गये

भावार्थ— हे प्रभो ! पूर्वजन्म में मैंने कुछ भी पुण्य का उपार्जन नहीं किया और वर्त्तमान में मेरी जैसी प्रवृत्ति है, उसके अनुसार अगले जन्म के लिए भी मै कुछ पुण्य-संचय नहीं कर पाऊँगा। वर्तमान जन्म तो नाना संकल्पविकल्पों में बीत ही रहा है, इस प्रकार हे जगदीश ! मेरे तीनों ही भव नष्ट हो गये। अब मैं क्या करूँ ?



किं वा मुधाऽहं बहुधा सुधा-भुक्—
पूज्य ! त्वदग्रे चरितं स्वकीयम्।
जल्पामि यस्मात् त्रि-जगत्स्वरूप—
निरूपकस्त्वं कियदेतदत्र॥ २४॥

हिन्दी पद्य :

त्रिदिव नाथ से पूजित भगवन् ! जिनवर ! परम पवित्र,
कहूँ आपके सन्मुख क्या मैं अपना पाप-चरित्र।
सकल ज्ञेय के ज्ञायक हो प्रभु ! केवलज्ञान-निधान,
तो फिर मेरे पाप-चरित को क्यों न सको पहिचान॥ २४

अन्वयार्थ :	**सुधाभुक्-पूज्यः—**	हे देवों से पूज्य भगवन् ।
	किं वा—	अथवा क्या
	अहम्—	मैं
	बहुधा-मुधा—	अनेक प्रकार से व्यर्थ ही
	त्वदग्रे—	आपके आगे
	स्वकीयम्—	अपना
	चरितम्—	चरित
	जल्पामि—	कहूँ ?
	यस्मात्—	क्योंकि
	त्वम्—	आप तो
	त्रि-जगत्स्वरूप—	तीन जगत के स्वरूप के
	निरूपकः—	जानने वाले हैं
	अत्र—	इस विषय में
	एतत्-कियत्—	मेरा यह कथन कितना क्या है ?

भावार्थ— हे देवेन्द्र-पूजित जिनेन्द्र । अपना कितना पापमय चरित आपके आगे कहूँ ? आप तो त्रिलोक-त्रिकाल के ज्ञाता हैं, अतः मेरे सब चरित को जानते ही हैं। अतः अब आगे और कुछ कहना व्यर्थ है। अब तो आप मेरे उद्धार का उपाय बताइये।



दीनोद्धार-धुरन्धरस्त्वदपरो नास्ते मदन्यः कृपा—
पात्रं नाऽत्र जने जिनेश्वर ! तथाऽप्येतां न याचे श्रियम्।
किन्त्वर्हन्निदमेव केवलमहो सद्बोधि-रत्नं शिवं,
श्रीरत्नाकर । मंगलैकनिलय । श्रेयस्करं प्रार्थये ॥ २५ ॥

हिन्दी पद्य :

दीनोद्धारक एक तुम्हीं हो, जिनवर देव अनन्य,
मुझसा दीन कहाँ पाओगे, तरने लायक अन्य।
नहीं कामना लक्ष्मी की है, बोधि मिले भगवान,
हे मंगलमय ! यह श्रेयस्कर शिवकर करो प्रदान॥ २५॥

अन्वयार्थ :

जिनेश्वर !—	हे जिनेश्वर !
अत्र (जगति)—	इस जगत में
त्वदपरः—	आपके सिवाय
दीनोद्धार-धुरंधरः—	दीनों का उद्धार करने में समर्थ
न आस्ते—	(अन्य कोई) नहीं है और
मदन्यः—	मेरे सिवाय कोई
कृपा-पात्रम्—	कृपा-पात्र
न—	नहीं है
तथापि—	तो भी मैं
एताम्—	इस सांसारिक
श्रियम्—	लक्ष्मी को
न याचे—	नहीं माँगता हूँ, किन्तु
अर्हन्—	हे अरहन्त देव !
श्री रत्नाकर—	हे श्री रत्नाकर !
मंगल-एक-निलयः—	हे मंगल के एक मात्र आगार !
अहो—	अहो मैं
केवलम्—	केवल
इदम्-एव—	इस ही
श्रेयस्करम्—	कल्याण-कारक
शिवम्—	शिव स्वरूप
सद्बोधि-रत्नम्—	सद्बोधिरूप रत्न को
प्रार्थये—	माँगता हूँ

भावार्थ— हे भगवन् ! दीन जनों का उद्धार करने वाले एकमात्र आप ही हैं, आपके सिवाय अन्य कोई तारने वाला नहीं है तथा मुझ जैसा अन्य कोई दया का पात्र भी नहीं है। हे जिनेश्वर ! मैं आपसे लौकिक सम्पति की याचना नहीं करता हूँ, किन्तु मोक्ष को देने वाला कल्याणकारी सद्बोधिरत्न माँगता हूँ, वह मुझे दीजिए।



श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ-स्तुति

(दोहा)

कल्पबेल चिन्तामणि, काम-धेनु गुण-खान।
अलख अगोचर अंगम गति, चिदानन्द भगवान॥ १॥
परम ज्योति परमात्मा, निराकार अविकार।
निर्भय रूप ज्योति स्वरूप, पूरण ब्रह्म अपार॥ २॥
अविनाशी साहिब धणी, चिन्तामणि श्रीपास।
अर्ज करूँ कर जोड़ के, पूरो वंछित आस॥ ३॥
मन-चिन्तित आशा फले, सकल सिद्ध हों काम।
चिन्तामणि को जाप जप, चिन्ता हरे यह नाम॥ ४॥
तुम सम मेरो को नहीं चिन्तामणि भगवान।
चेतन की यह वीनती, दीजे अनुभव ज्ञान॥ ५॥

(चौपाई)

प्राणत देवलोक से आए,
जन्म बनारसी नगरी पाए॥
अश्वसेन कुल-मंडन स्वामी,
तिहुँ जग के प्रभु अंतरजामी॥ ६॥

वामादेवी माता के जाये,
लंछन नागफणी मणि पाये॥
शुभ काया नव हाथ बखाणों,
नील वर्ण तन निर्मल जाणों॥ ७॥

मानव यक्ष सेवें प्रभु–पाय,
पद्मावती देवी सुख–दाय॥
इन्द्र–चन्द्र पारस–गण गावें,
कल्पवृक्ष चिन्तामणि पावें॥ ८॥
नित सुमरो चिन्तामणि स्वामी,
आशा पूरे अन्तरयामी॥
धन–धन पारस पुरिसादाणी,
तुम सम जग में को नहिं नाणी॥ ९॥
तुमरो नाम सदा सुखकारी,
सुख उपजै दुख जाय बिसारी॥
चेतन को मन तुमरे पास,
मन–वांछित पूरो प्रभु आस॥ १०॥

(दोहा)

ॐ भगवंत चिन्तामणि पार्श्व प्रभु जिनराय।
नमो–नमो तुम नाम से, रोग–शोक मिट जाय॥ ११॥
वात पित्त दूरे टलें, कफ नहीं आवे पास।
चिन्तामणि के नाम से, मिटें श्वास और खांस॥ १२॥
प्रथम दूसरो तीसरो, ताव चौथियो जाय।
शूल बहत्तर दूर हों, दादरु खाज न थाय॥ १३॥
विस्फोटक गुडगुंबड़ा, कोढ़ अठारह दूर।
नेत्र–रोग सब परिहरे, कंठ–माल चकचूर॥ १४॥
चिन्तामणि के जाप से, रोग शोक मिट जाय।
चेतन पारस नाम को, सुमरो मन चित लाय॥ १५॥

(चौपाई)

मन शुद्धे सुमरो भगवान, भयभंजन चिन्तामणि ध्यान।
भूत-प्रेत-भय जावें दूर, जाप जपे सुख-सम्पत्तिपूर॥ १६॥
डाकण साकण व्यंतर देव, भय नहीं लागे पारस-सेव।
जलचर थलचर उरपर जीव, इनको भय नहिं सुमरो पीव॥ १७॥
बाघ सिंह को भय नहीं होय, सर्प गोह आवे नहिं कोय।
बाट घाट में रक्षा करे, चिन्तामणि चिन्ता सब हरे॥ १८॥
टोण टामण जादू करे, तुमरो नाम लियां सब डरे।
ठग फांसीगर तस्कर होय, द्वेषी दुश्मन नावे कोय॥ १९॥
भव सब भागें तुमरे नाम, मनवांछित पूरो सब काम।
भय-निवारण पूरे आस, चेतन जप चिन्तामणि पास॥ २०॥

(दोहा)

चिन्तामणि के नाम से, सकल सिद्ध हो काम।
राज-ऋद्धि रमणी मिले, सुख सम्पत्ति बहु दाम॥ २१॥
हय गय रथ पायक मिलें, लक्ष्मी को नहिं पार।
पुत्र कलत्र मंगल सदा, पावे शिव दरबार॥ २२॥
चेतना चिन्ता-हरण को, जाप जपो तिहुँ काल।
कर आंबिल षट् मास को, उपजे मंगल माल॥ २३॥
पारस-नाम प्रभाव से, बाढ़े बल बहु ज्ञान।
मनवांछित सुख ऊपजे नित सुमरो भगवान॥ २४॥
संवत अठारा ऊपरे, साढ़-त्रीस परिमाण।
पौष शुक्ल दिन पंचमी, बार शनिश्चर जाण॥ २५॥
पढ़े गुणे जो भाव से, सुणे सदा चित्त लाय।
चेतन-सम्पत्ति बहु मिले, सुमरो मन बच काय॥ २६॥

श्री नवकार-स्तुति

सुख कारण, भवियण, सुमरो नित नवकार।
जिनशासन आगम, चौदह पूर्वनी सार॥
इण मंत्रनी महिमा, कहेतां न लहिए पार।
सुरतरु-जिम चिंतित, वंछित फल दातार॥ १॥
सुर दानव मानव, सेवा करें कर जोड़।
भू-मंडल विचरें, तारें भवियण कोड़॥
सुर छन्दे विलसें, अतिशय जास अनन्त।
पद पहिले नमिये, अरिगंजन अरिहन्त॥ २॥
जे पनरे भेदे, सिद्ध थया भगवन्त।
पंचम ·गति पहुँचे, अष्टकर्म करि अन्त॥
कल अकल स्वरूपी, पंचानन्तक देह।
जिनवर-पद प्रणमुं, बीजे पद वली एह॥ ३॥
गच्छ भार धुरंधर, सुन्दर शशिहर शोभ।
कर सारण वारण, गुण छत्रीसे थोभ॥
श्रुत जाण शिरोमणि, सागर जिम गम्भीर।
तीजे पद नमिये, आचारज गुणधीर॥ ४॥
श्रुतधर गुण-आगर, सूत्र भणावें सार।
तप-विधि संयोगे, भाखें अर्थ-विचार॥
मुनिवर गुण-युक्ता, कहिये ते उवज्झाय।
पद चौथे नमिये, अह-निश तेना पाय॥ ५॥
पंचाश्रव टालें, पालें पंचाचार।
तपसी गुण-धारी, वारें विषय-विकार॥
त्रस-थावर-पीहर, लोकमाहिं जे साध।
त्रिविधे ते प्रणमं, परमारथ जिण लाध॥ ६॥
अरि करि हरि सायन, डायन भूत बेताल।
सब पाप पणासे, वरतें मंगल-माल॥
इण सुमरियाँ संकट, दूर टलें तत्काल।
इम जम्पे जिनप्रभ-सूरी-शिष्य रसाल॥ ७॥

बारह भावना

१- अनित्य भावना

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार॥

२- अशरण भावना

दल-बल देवी देवता, मात-पिता परिवार।
मरती बिरियां जीव को, कोई न राखनहार॥

३- संसार भावना

दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णा-वश धनवान।
कहुँ न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान॥

४- एकत्व भावना

आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय।
यों कबहुँ या जीव को, साथी सगो न कोय॥

५- अन्यत्व भावना

जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपना कोय।
घर-संपत्ति पर प्रकट ये, पर हैं परिजन लोय॥

६- अशुचि भावना

दीपै चाम चादर मढ़ी, हाड़ पींजरा देह।
भीतर या सम जगत में, और नहीं घिन-गेह॥

७- आस्रव भावना

जग-वासी घूमें सदा, मोह-नींद के जोर।
सब लूटे नहीं दीसता, कर्मचोर चहुँ ओर॥

८- संवर भावना

मोह-नींद जब उपशमे, सद्गुरु देय जगाय।
कर्म-चोर आवत रुकें, तब कुछ बने उपाय॥

९- निर्जरा भावना

ज्ञान-दीप तप-तेल भर, घर शोधे भ्रम छोर।
या विधि बिन निकसें नही, पैठे पूरब चोर॥
पंच महाव्रत संचरण, समिति पच प्रकार।
प्रबल पंच इन्द्रियविजय, धार निर्जरा सार॥

१०- लोक भावना

चौदह राजू उतंग नभ, लोक-पुरुष संठान।
तामें जीव अनादि तै, भरमत है बिन ज्ञान॥

११- बोधि-दुर्लभ भावना

धन-जन-कचन राज-सुख, सबहिं सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार मे, एक यथारथ ज्ञान॥

१२- धर्म भावना

याचे सुरतरु देय सुख, चिन्तित चिन्ता रैन।
बिन याचे बिन चिन्तिये, धर्म सदा सुख दैन॥

बड़ीसाधु-वन्दना

नमू अनन्त चौबीसी, ऋषभादिक महावीर।
आरज-क्षेत्रमा, घाली धर्मनी शीर॥ १॥
महा अतुलबली नर, शूर वीर ने धीर।
तीरथ प्रवर्तावी, पहुँचा भवजल-तीर॥ २॥

सीमंधर प्रमुख, जघन्य तीर्थंकर वीश।
छै अढीद्वीप मा, जयवंता जगदीश॥ ३॥
एक-सौ ने सत्तर, उत्कृष्ट पदे जगीश।
धन्य म्होटा प्रभुजी, तेहने नमाऊँ शीश॥ ४॥
केवली दोय कोड़ी, उत्कृष्टा नव कोड़।
मुनि दोय सहस कोड़ी, उत्कृष्टा नव सहस कोड़॥ ५॥
विचरें छै विदेहे, म्होटा तपसी घोर।
भावे करि वन्दूँ, टाले भवनी खोड़॥ ६॥
चौबीसे जिनना, सगला ही गणधार।
चौदेसे ने बावन, ते प्रणमूँ सुखकार॥ ७॥
जिन-शासन-नायक, धन्य श्री वीर जिनंद।
गौतमादिक गणधर, बर्तायो आनन्द॥ ८॥
श्री ऋषभदेवना भरतादिक सौ पूत।
वैराग्य मन आणी, संयम लियो अद्भूत॥ ९॥
केवल उपजाव्यूं, कर करणी करतूत।
जिनमत दीपावी, सगला मोक्ष पहूँत॥ १०॥
श्री भरतेश्वरना, हुआ पटोधर आठ।
आदित्यजशादिक, पहुँत्या शिवपुर वाट॥ ११॥
श्री जिन-अन्तरना, हुआ पाट असंख।
मुनि मुक्ति पहुँत्या, टालि कर्मनो बंक॥ १२॥
धन्य कपिल मुनिवर, नमी नमुं अणगार।
जेणे तत्क्षण त्याग्यो, सहस्र-रमणी परिवार॥ १३॥
मुनि बल हरिकेशी, चित्त मुनीश्वर सार।
शुद्ध सयम पाली, पाम्या भवनो पार॥ १४॥
बलि इखुकार राजा, घर कमलावती नार।
भग्गू ने जशा, तेहना दोय कुमार॥ १५॥

छये छती ऋध छांडी, लीधो संयम भार।
इण अल्पकालमां, पाम्या मोक्ष–दुवार॥ १६॥
वलि संयति राजा, हिरण आहिडे जाय।
मुनिवर गर्दभाली, आण्यो मारग ठाय॥ १७॥
चारित्र लेईने, भेट्या गुरुना पाय।
क्षत्री राजऋषीश्वर, चर्चा करी चित लाय॥ १८॥
वलि दशे चक्रवर्ती, राज्य रमणी ऋद्धि छोड़।
दशे मुक्ति पहुँत्या, कुल ने शोभा चहोड़॥ १९॥
इण अवसर्पिणी कालमां, आठ राम गया मोक्ष।
बलभद्र मुनीश्वर, गया पंचमे देवलोक॥ २०॥
दशार्णभद्र राजा, वीर वांद्या धरि मान।
पछि इन्द्र हटायो, दियो छकाय अभयदान॥ २१॥
करकण्डु प्रमुख, चारे प्रत्येकबुद्ध।
मुनि मुक्ति पहुँत्या, जीत्या कर्म महाजुद्ध॥ २२॥
धन म्होटा मुनिवर, मृगापुत्र जगीश।
मुनिवर अनाथी, जीत्या राग ने रीश॥ २३॥
बलि समुद्रपाल मुनि, राजमती रहनेम।
केशी ने गौतम, पाम्या शिवपुरखेम॥ २४॥
धन विजयघोष मुनि, जयघोष बलि जाण।
श्री गर्गाचार्य, पहुँत्या छै निर्वाण॥ २५॥
श्री उत्तराध्ययनमां, जिनवर कर्‌या बखाण।
शुद्ध मन से ध्यावो, मन में धीरज आण॥ २६॥
बलि खंदक संन्यासी, राख्यो गौतम–स्नेह।
महावीर समीपे, पंच महाव्रत लेह॥ २७॥
तप कठिन करीने, झौंसी आपणी देह।
गया अच्युत देवलोके, चवि लेसे भव–छेह॥ २८॥

सेठ सुदर्शन सार।
बलि ऋषभदत्त मुनि, गांगेय अणगार॥ २९॥
शिवराज ऋषीश्वर, धन केवल सार।
शुद्ध संयम पाली, पाम्या मॅझार॥ ३०॥
ये चारे मुनिवर, पहुँत्या मोक्ष देवानन्दा।
भगवंतनी माता, धन-धन सती
बलि सती जयन्ती, छोड़ दिया घर फन्दा॥ ३१॥
सती मुक्ति पहुँत्या, वली ते वीरनी नन्द।
महासती सुदर्शना, घणी सतियोनां वृन्द॥ ३२॥
वलि कार्तिक शेठे, पडिमा वही शूर वीर।
जिम्यो मोरां ऊपर, तापस बलती खीर॥ ३३॥
पछी चारित्र लीधूँ, मित्र एक सहस आठ धीर।
मरी हुओ शक्रेन्द्र, चवि लेसे भव-तीर॥ ३४॥
वलि राय उदायन, दियो भाणजा ने राज।
पछी चारित्र लेईने, सार्‌या आतमकाज॥ ३५॥
गंगदत्तमुनि आनन्द, तारण-तरण जहाज।
मुनि कौशल रोहो, दियो घणाने साज॥ ३६॥
धन्य सुनक्षत्र मुनिवर, सर्वानुभूति अणगार।
आराधक हुई ने, गया देवलोक मंझार॥ ३७॥
चवि मुक्ते जासे, वली सिंह मुनीश्वर सार।
बीजा पण मुनिवर, भगवती मां अधिकार॥ ३८॥
श्रेणिकनो बेटो, म्होटो मुनिवर मेघ।
तजी आठ अंतेउर, आण्यो मन संवेग॥ ३९॥
वीर पै व्रत लेई ने, बाँधी तपनी तेग।
गया विजय विमाने, चवि लेसे शिव वेग॥ ४०॥
धन्य थावच्च-पुत्र, तजी बतीसों नार।
तेनी साथे निकल्या पुरुष एक हजार॥ ४१॥

शुकदेव संन्यासी एक सहस शिष्य लार।
पॉच-सौ से शेलक, लीधो संयम भार॥ ४२॥
सब सहस्र अढाई, घणा जीवों ने तार।
पुण्डरिक गिरी ऊपर, कियो पादोपगमन संथार॥ ४३॥
आराधक हुईने, कीधो खेवो पार।
हुआ म्होटा मुनिवर, नाम लियां निस्तार॥ ४४॥
धन्य जिनपाल मुनिवर, दाय धन्ना हुआ साध।
गया प्रथम देवलोके, मोक्ष जासे आराध॥ ४५॥
श्रीमल्लिनाथना छह मित्र, महाबलप्रमुख मुनिराय।
सर्वे मुक्ति सिधाव्या, म्होटी पदवी पाय॥ ४६॥
वलि जितशत्रु राजा, सुबुद्धि नामे प्रधान।
पोते चारित्र लईने, पाम्या मोक्ष निधान॥ ४७॥
धन्य तं ली मुनिवर, दियो छकाय अभयदान।
पोटिला प्रतिबोध्या, पाम्या केवलज्ञान॥ ४८॥
धन्य पॉचे पाडंव, तजी द्रौपदी नार।
थेवरांनी पासे, लीधो संयम भार॥ ४९॥
श्री नेमिवन्दन नो, एहवो अभिग्रह कीध।
मास-मास खमण तप, शत्रुंजय जई सिद्ध॥ ५०॥
धर्मघोप तणा शिष्य, धर्मरुचि अणगार।
कीडियोनी करुणा, आणी दया अपार॥ ५१॥
कडवा तुंबानो, कीधो सगलो आहार।
सर्वार्थसिद्ध पहुॅत्या चवि लेसे भव-पार॥ ५२॥
वलि पुण्डरीक राजा, कुण्डरीक डिगियो जाण।
पोते चारित्र लेईने, न घाली धर्ममां हाण॥ ५३॥
सर्वार्थसिद्ध पहुॅत्या, चवि लेसे निर्वाण।
श्रीज्ञातासूत्रमा, जिनवर कर्या वखाण॥ ५४॥

गौतमादिक कुँवर, सगा अठारे भ्रात।
सब अन्धकविष्णु-सुत, धारिणी ज्यॉरी मात॥ ५५॥
तजी आठ अंतेउर, काढ़ी दीक्षानी बात।
चारित्र लेईने, कीधो मुक्तिनो साथ॥ ५६॥
श्री अनीकसेनादिक, छये सहोदर भाय।
वसुदेवना नन्दन, देवकी ज्याँरी माय॥ ५७॥
भद्दिलपुर नगरी, नाग गाहावई जाण।
सुलसा घर वधिया, साँभली नेमिनी वाण॥ ५८॥
तजी वत्तीस-बत्तीस अतेउर, नीकलिया छटकाय।
नल कुबेर समान, भेट्या श्री नेमिना पाय॥ ५९॥
करी छठ-छठ पारणा, मन वैराग्य लाय।
एक मास संथारे, मुक्ति विराज्या जाय॥ ६०॥
वली दारुक सारण, सुमुख दुमुख मुनिराय।
वली कुँवर अनाधृष्ट, गया मुक्ति गढ़ माँय॥ ६१॥
वसुवेदना नन्दन, धन-धन गजसुकुमाल।
रूपे अतिसुन्दर, कलावन्त वय बाल॥ ६२॥
श्री नेमि समीपे, छोड्यो मोह-जजाल।
भिक्षुनी पडिमा, गया मसाण महाकाल॥ ६३॥
देखी सोमल कोप्यो, मस्तक बाँधी पाल।
खेरानां खीरा, शिर ठविया असराल॥ ६४॥
मुनि नजर न खण्डी, मेटी मननी झाल।
परिषह सहीने, मुक्ति गया तत्काल॥ ६५॥
धन जाली मयाली, उवयालादिक साध।
सांब ने प्रद्युम्न, अनिरुध साधु अगाध॥ ६६॥
वलि सतनेमि दृढ़नेमि, करणी कीधी निर्बाध।
दशे मुक्ति पहुँत्या, जिनवर वचन आराध॥ ६७॥

धन अर्जुनमाली, कियो कदाग्रह दूर।
वीर पै व्रत लईने, सत्यवादी हुआ शूर॥ ६८॥
करी छठ-छठ पारणा, क्षमा करी भरपूर।
छह मासा मांहीं, कर्म किया चकचूर॥ ६९॥
कुँवर अइमुत्तो, दीठा गौतम स्वाम।
सुणि वीरनी वाणी, कीधो उत्तम काम॥ ७०॥
चारित्र लेईने, पहुँत्या शिवपुर ठाम।
धुर आदि मकाई, अन्त अलक्ष मुनि नाम॥ ७१॥
वली कृष्णरायनी, अग्रमहिषी आठ।
पुत्र-बहू दोय, संच्या पुण्यना ठाठ॥ ७२॥
जादव-कुल सतियाँ, टाल्यो दु:ख उचाट।
पहुँती शिवपुरमां, यह छे सूत्रनो पाठ॥ ७३॥
श्रेणिकनी राणी, काली आदिक दश जाण।
दशे पुत्रवियोगे साँभली वीरनी वाण॥ ७४॥
चन्दनबाला पै, संयम लेई हुई जाण।
तप करि देह झौसी, पहुँती छे निर्वाण॥ ७५॥
नन्दादिक तेरह, श्रेणिकनृपनी नार।
सगली चन्दनबाला पैं, लीधो सयम भार॥ ७६॥
एक मास संथारे पहुँती मुक्ति मँझार।
यह नेवुं जणानो, अन्तगडमां अधिकार॥ ७७॥
श्रेणिकना बेटा, जालीयादिक तेवीश।
वीर पैं व्रत लेईने, पाल्यो विश्वावीश॥ ७८॥
तप कठिन करी ने, पूरी मन जगीश।
देवलोके पहुँत्या, मोक्ष जासे तजी रीश॥ ७९॥
काकन्दीनो धन्नो, तजी बतीसो नार।
महावीर-समीपे लीधो सयम भार॥ ८०॥

करी छठ-छठ पारणा, आयंबिल उज्झित आहार।
श्री वीर बखाण्यो, धन धन्नो अणगार॥ ८१॥
एक मास संथारे, सर्वार्थसिद्ध पहुँत।
महाविदेह-क्षेत्रमां करसे भवनो अन्त॥ ८२॥
धन्नानी रीते, हुआ नवें संत।
श्री अनुत्तरोववाईमां, भाखि गया भगवंत॥ ८३॥
सुबाहु प्रमुख, पॉच पाँच सौ नार।
तजी वीर पै लीधा, पॉच महाव्रत सार॥ ८४॥
चारित्र लेईने, पाल्या निर्‌अतिचार।
देवलोके पहुँत्या, सुख-विपाके अधिकार॥ ८५॥
श्रेणिकना पोता, पौमादिक हुआ दस।
वीर पै व्रत लेईने, काढ्यो देहनो कस॥ ८६॥
संयम आराधी, देवलोकमां जई वस।
महाविदेह क्षेत्रमां, मोक्ष जासे लेई जस॥ ८७॥
बलभद्रना नन्दन, निषधांदिक हुआ चार।
तजी पचास अन्तेउरी, त्याग दियो संसार॥ ८८॥
सहु नेमि समीपे, चार महाव्रत लीध।
सर्वार्थसिद्ध पहुँत्या, होसे विदेहे सिद्ध॥ ८९॥
धन्नो ने शालिभद्र, मुनीश्वरोनी जोड़।
नारीना बन्धन, तत्क्षण नाँख्या तोड़॥ ९०॥
घर कुटुम्ब कबीलो, धन कंचननी कोड़।
मास-मास खमण तप, टालसे भवनी खोड॥ ९१॥
श्री सुधर्मस्वामीना शिष्य, धन-धन जम्बू स्वाम।
तजी आठ अन्तेउरी, माता-पिता धन-धाम॥ ९२॥
प्रभवादिक तारी, पहुँत्या शिवपुर ठाम।
सूत्र प्रवर्तावी, जगमां राख्यू नाम॥ ९३॥

धन ढंढण मुनिवर, कृष्णारायना नन्द।
शुद्ध अभिग्रह पाली, टाल दियो भव फन्द॥ ९४॥
वलि खन्दक ऋषिनी, देह उतारी खाल।
परिषह सहीने, भव फेरा दिया टाल॥ ९५॥
वलि खन्दक ऋषिना, हुआ पाँच-सौ शीष।
घाणीमां पील्या, मुक्ति गया तज रीश॥ ९६॥
संभूतिविजयतणा शिष्य, भद्रबाहु मुनिराय।
चौदह पूर्वधारी, चन्द्रगुप्त आण्यो ठाय॥ ९७॥
वलि आर्द्रकुमार मुनि, स्थूलभद्र नन्दिषेण।
अरणक अइमुत्तो, मुनीश्वरोनी श्रेण॥ ९८॥
चौबीसे जिनना मुनिवर, संख्या अठावीश लाख।
ऊपर सहस अडतालीस, सूत्र परम्परा भाख॥ ९९॥
कोई उत्तम वांचो, मोंढे जयणा राख।
उघाड़े मुख बोल्या, पाप लगे इम भाख॥ १००॥
धन्य मरुदेवी माता, ध्यायो निर्मल ध्यान।
गज-होदे पायो, निर्मल केवलज्ञान॥ १०१॥
धन्य आदीश्वरनी पुत्री, ब्राह्मी सुन्दरी दोय।
चारित्र लेईने, मुक्ति गई सिद्ध होय॥ १०२॥
चौबीसे जिननी, बड़ी शिष्यणी चौबीस।
सती मुक्ते पहुँत्या, पूरी मन जगीश॥ १०३॥
चौबीसे जिननां, सर्व साध्वी सार।
अडतालीस लाख ने, आठ से सत्तर हजार॥ १०४॥
चेडानी पुत्री, राखी धर्मनी प्रीत।
राजीमती विजया, मृगावती सुविनीत॥ १०५॥
पद्मावती, मयणरेहा, द्रौपदी दमयन्ती सीत।
इत्यादिक सतियाँ, गई जमारो जीत॥ १०६॥

चौबीसे जिननां, साधु साधवी सार।
गया मोक्ष देवलोके, हृदय राखो धार॥ १०७॥
इण अढ़ाईद्वीपमां घरडा तपसी बाल।
शुद्ध पंच महाव्रतधारी, नमो नमो तिहुँकाल॥ १०८॥
इण यतियों सतियोंनां, लीजे नितप्रति नाम।
शुद्ध मनथी ध्यावो, यह तिरणनो ठाम॥ १०९॥
इण यतियों सतियों सूं, राखो उज्ज्वल भाव।
इम कहे ऋषि जयमल, एह तिरणनो दाव॥ ११०॥
संवत् अठारा ने वर्ष साते शिरदार।
गढ जालोर मांही, एह कह्यो अधिकार॥ १११॥

विनय

अहो जगतगुरु एक, सुनिए अरज हमारी।
तुम हो दीन-दयाल, मैं दुखिया संसारी॥ १॥
इस भव-वन में वादि, काल अनादि गमायो।
भ्रमत चहुंगति मांहि, सुख नहिं दुख बहु पायो॥ २॥
कर्म महारिपु जोर, एक ना कान करैं जी।
मनमान्या दुख देहिं, काहू सों न डरें जी॥ ३॥
कबहूँ इतर निगोद, कबहूँ नरक दिखावैं।
सुर-नर-पशुगति मांहि, बहुविधि नाच नचावैं॥ ४॥
प्रभु ! इनके परसंग, भव-भव माहिं बुरे जी।
जे दुख देखे देव तुम सों नाहिं दुरे जी॥ ५॥
एक जन्म की वात, कहि सकों सुनि स्वामी।
तुम अनन्त परजाय, जानत अन्तरजामी॥ ६॥
मैं तो एक अनाथ, ये मिलि दुष्ट घनेरे।
कियो वहुत वेहाल, सुनियो साहिव मेरे॥ ७॥

ज्ञान-महानिधि लूटि, रंक निबल करि डार्यो।
इनने तुम मुझ मांहि, हे जिन ! अन्तर पार्यो॥ ८॥
पाप पुण्य की दोइ, पाँयनि बेरी डारी।
तन कारागृह माँहि, मोहि दियो दुख भारी॥ ९॥
इनको नेक बिगार, मै कुछ नाहिं कियो जी।
बिन कारन जगवद्य ! बहुविधि वैर लियो जी॥ १०॥
अब आयो तुम पास, सुनि जिन सुजस तिहारो।
नीतिनिपुन जगराय, कीजो न्याय हमारो॥ ११॥
दुष्टन देहु निकास, साधुन को रख दीजे।
विनवै 'भूधरदास' हे, प्रभु ढील न कीजे॥ १२॥

अखण्ड-वन्दन

(तर्ज-सुनो-सुनो ए दुनिया वालो बापू जी की अमर ....)

वन्दन हम करते मंगलमय, महावीर स्वामी को।
संघ-शिरोमणि शासन-नायक, प्रभु अन्तर्यामी को॥
वर्द्धमान गुण-खान जिनेश्वर, जीवन प्राण सहारे।
तीर्थंकर निर्ग्रन्थ हितकर, सन्मति देव हमारे॥
त्रिशला-नन्दन त्रिभुवन-मडन, धन्य परमधामी को॥ १॥
जिन चरणों में गौतमादि ने, विद्या-मद विसराया।
जिन चरणों में सब इन्द्रों ने, अपना शीष झुकाया॥
उन चरणों पर बली बली जाएँ, धन्य मोक्षगामी को॥ २॥
समवशरण में पशु-पक्षी भी, सहज शत्रुता भूले।
दिव्य-भव्य-सुर-नर-मुनि-गण, सब आत्मगुणों मे झूले॥
शरणागत हम लेकर सेवक, सूर्यचन्द्र नामी को॥ ३॥

हार्दिक अन्तिम भावना

(तर्ज- ओ दूर जाने वाले)

ऐसी कृपा हो भगवन्। जब प्राण तन से निकले २
होवे समाधि पूरण। जब प्राण तन से निकले २
माता पितादि बंधव। हैं जो कुटुम्बी सारे॥
इनसे ममत्व छूटे। जब प्राण तन से निकले २ ऐ
मुनिराज मेरे सर हो। धर्मोपदेश तर हो॥
सुनते ही सुनते उनके। वचनों में लीन निकले २ ऐ
कोई न शत्रु मेरा। दुश्मन न मैं किसी का॥
फिर भी शल्य कोई। अन्त:करण से निकले २ ऐ
दुष्कर्म दु:ख दिखावे। या रोग शोक घेरे॥
प्रभु का न ध्यान छूटे। जब प्राण तन से निकले २ ऐ
इच्छा क्षुधा तृषा की। होवे जो उस घडी में॥
उसका भी त्याग होवे। जब प्राण तन से निकले २ ऐ
जग में न दिल हो मेरा। इक ध्यान हो तुम्हारा॥
नवकार पढ़ते पढ़ते। आत्मा बदन से निकले २ ऐ
यह भावना है केवल। चाहें यही सभी हम॥
समभाव पूर्ण चित्त हो। जब प्राण तन से निकले २ ऐ.

मेरी सद्भावना

जैसे पर के दिए क्लेश से, मन मेरा दु:ख पाता है।
वैसे पर प्राणी भी मेरी, पीडा से अकुलाता है॥
इसीलिए मन-वच-काया से, जग जीवों को क्लेश न दूँ।
व्यर्थ सताकर किसी जीव को, अपने ऊपर पाप न लूँ॥ १॥
झूठ बोलना महापाप है, शास्त्र संत जिनका सिद्धान्त।
कारण सत्य छिपा देने से, जग रह सकता कभी न शांत॥
अत: न बोलूँ झूठ कभी भी, चाहे दु:ख आ जावें लाख।
सत्य बोल कर सदा बचाऊँ, नश्वर जग में अपनी साख॥ २॥

पर-श्रम-संचित-वित्त चुराकर, पल भर हम सुख पायेंगे।
किन्तु आह उसकी अन्तिम क्षण, निश्चय हमें सताएंगे॥
हेतु धूलवत परधन समझूँ, चाह न उसकी किया करूँ।
चाहे भूखे रहकर निश दिन, आह काढकर जिया करूँ॥ ३॥
विपय वासना रत रहने से, शक्ति क्षीण हो जाती है।
जीवन भारभूत हो जाता, मृत्यु निकट आ जाती है॥
अतः कभी हे ईश ! हृदय में, रति चिन्तन नहीं किया करूँ।
पर नारी को मातृ समझ नित, प्रमुदित मन हो जिया करूँ॥ ४॥
एक एक कर बढती तृष्णा, अन्त न उसका होता है।
लाखों पा जाने पर भी तो, प्राण भार नित ढोता है॥
इसीलिए तृष्णा पर संयम, करने में ही है उपकार।
बनकर संयमशील परिग्रह, को कर दूँ शतशः धिक्कार॥ ५॥
क्रोध भूत जब चढता है सिर, कर जाते हम पाप अनेक।
इसीलिए मेरे दिल में हे नाथ ! न होवे क्रोधोद्रेक॥
मोहग्रस्त हो करके प्राणी, जाता आत्म तत्त्व को भूल।
हेतु न मोह भूल कर रक्खूँ, जो है आत्मबध का मूल॥ ६॥
मद की मदिरा जब चढ जाती, रहता नहीं कर्म का भान।
इसीलिए मेरे मानस में, कभी न घर पावे अभिमान॥
छल कर स्वार्थ गाँठते लेकिन, भला न है उसका परिणाम।
अतः कभी हे ईश ! भूलकर, लूँ न हृदय मे छल का नाम॥ ७॥
उपकारी यदि बन न सकूँ तो, करूँ न पर का भी अपकार।
सकूँ न कर यदि मुदित विश्व को, रुष्ट न हो मुझसे ससार॥
सभी सुखी होवें जीवन मे, होवें रोग रहित सब लोग।
मंगल शुभ देखे सब कोई, पावें नही कष्ट का योग॥ ८॥
बरसे मेघ सुभिक्ष सदा हो, योग-क्षेम रहे भरपूर।
राजा प्रजा स्वामी सेवक मे, द्वेप क्लेश का चकनाचूर॥
यही भावना बढ़े निरंतर, करूँ सदा जनहित का कार्य।
गये हमारे जिस पथ गुरुजन, पकड़ूँ राह वही बन आर्य॥ ९॥

महामन्त्र की आरती

जय अरिहंन्ताणं, प्रभु जय अरिहन्ताण।
भाव भक्ति से नित्य प्रति प्रणमूॅ सिद्धाणं॥
ॐ जय अरिहन्ताणं॥ ध्रुव॥

दर्शन ज्ञान अनंता, शक्ति के धारी, स्वामी।
यथाख्यात समकित है, कर्मशत्रु हारी॥ ॐ१॥

हे सर्वज्ञ ! सर्वदर्शी बल, [illegible] अनंत पायें स्वामी।
अगुरुलघु अमूरत, अव्यय कहलाये॥ ॐ२॥

नमो आयरियाणं, छत्तीस गुण पालक, स्वामी।
जैन धर्म के नेता, संघ के संचालक॥ ॐ३॥

नमो उवज्झायाणं चरण करण ज्ञाता, स्वामी।
अंग उपांग पढ़ाते, ज्ञान दान दाता॥ ॐ४॥

नमो सव्व साहूणं, ममता मद हारी, स्वामी।
सत्य अहिंसा अस्तेय, ब्रह्मचर्य धारी॥ ॐ५॥

चौथमल कहे शुद्ध मन, जो नर ध्यान धरे, स्वामी।
पावन पञ्च प्रमेष्ठी, मंगलाचार करे॥ ॐ६॥

पन्द्रह का यन्त्र

८	१	६
३	५	७
४	९	२

तर्ज— कांई रे प्रभाव

कांई रे प्रभाव कहूं नवपद को॥ टेर॥
१ भाव कहूला प्रभाव कहूला तो।
नवपद का चरणा मे ध्यान धरूंला॥ १॥
२ चारित्र की महिमा है निराली, तो।
जिणरो पालन कर मुक्ति पाली॥ कांई॥
३ बारह गुणा करी, अरिहन्त ज्ञानी, तो।
चोतीस अतिशय पैतीस वाणी॥ कांई॥
४ ज्ञान बिना जग में, अन्धेरो, तो।
प्राप्त ज्ञान केवल, शिव सुख वारो॥ कांई॥
५ आचार्य छत्तीस गुण पालक, तो।
संघ शिरोमणि, संघ संचालक॥ कांई॥
६ गुण सत्ताइस दीपे मुनिराया, तो।
मोक्ष को पंथ बतावन आया॥ कांई॥
७ श्रद्धा बिना सब काम अलूना, तो।
प्राप्त श्रद्धा कर्म क्षय कीना॥ कांई॥
८ उपाध्याय पच्चीस गुण धारी, तो।
ज्ञान सीखावे पर उपकारी॥ कांई॥

९ तप कर जीर्ण कर्म क्षय होवे, तो।
आत्मा उज्ज्वल निर्मल होवे॥ कांई॥
१०. आठ गुण करी सिद्ध अन्तर्यामी, तो।
अजर अमर अक्षय पद पामी॥ कांई॥
११. नव पद का सब ध्यान लगाओ, तो।
आप ही नवपद सम बन जाओ॥ कांई॥
१२. साध्वी उम्मेद तव गुण गावे, तो।
हर धड़कन मांहे ध्यान लगावे॥ कांई॥



पैंसठिया यन्त्र

६	१२	१८	२४	५
२३	४	१०	११	१७
१५	१६	२२	३	९
२	८	१४	२०	२१
१९	२५	१	७	१३

: रविवार :

(तर्ज—जय बोलो महावीर ....)

जय हो जय पद्म जिनेश्वर की,
जय पाप विनाशक सुखकर की ॥ टेर ॥

१— श्री वासुपूज्य अरह ज्ञानी,
शासनपति वर्द्धमान स्वामी।
केवल कमला के प्रियवर की ॥ जय ॥

२— श्री सुमति पार्श्व अभिनन्दन की,
शीतल श्रेयांस कुन्थु जिन की।
जय धर्म शांति शांतिकर की ॥ जय . . ॥

३— श्री नेमी सम्भव सुविधि देवा,
अजित चन्द्र अनन्त की सेवा।
मुनिसुव्रत नमि हितकर की ॥ जय . ॥

४— मल्लि जिन है मंगलकारी,
धनुप पच्चीस जिन देह धारी।
नील कमल उपमाधर की ॥ जय ॥

५— श्री ऋषभ सुपार्श्व विमल ज्ञानी,
मेटो तन मन की सब खानी॥
'उम्मेद' शरण ली जिनवर की॥ जय .... .. ॥

६— रवि दिन शुद्ध मन से ध्यान धरे,
अज्ञान तिमिर को दूर करे।
कट जावे भव बाधा हर की॥ जय . . ॥

पैंसठिया यन्त्र

८	१४	२०	२१	२
२५	१	७	१३	१९
१२	१८	२४	५	६
४	१०	११	१७	२३
१६	२२	३	९	१५

: सोमवार :

(तर्ज— धुसो बाजे रे ....)

जय बोलो जय बोलो रे,
चन्द्र जिनेश्वर की ॥ टेर॥

१— चन्द्रपुरी का महासेन राया,
लक्ष्मीदेवी की उदर में आया।
जग तारक जय जिनवर की॥ जय . ॥

२— अनन्त ज्ञानी अनन्त जिन ध्याऊँ,
मुनिसुव्रत जिन शीश झुकाऊँ।
श्याम वर्ण जय प्रभुवर की॥ जय . .. ॥

३— नमिनाथ अजित गुण धामी,
पच्चीस कषाय तज शिव गति पामी।
शिव रमणी के प्रियवर की॥ जय . ॥

४— रिषभ सुपार्श्व विमल जग त्राता,
मल्लि वासुपूज्य अरह विधाता।
वर्धमान शासन वर की॥ जय ॥

५— सुमति पद्म अभिनन्दन ध्याओ,
शीतल श्रेयांस कुन्थु गुण गाओ।
पार्श्व नाग–उद्धारक की॥ जय .. ॥

६— शांति नेमी सम्भव नाम सुहावे,
सुविधि धर्म मेरे मन भावे।
'उम्मेद' कहे जय गणधर की॥ जय ॥

७— सोमवार को जिन गुण गावे,
पाप टले आत्म धन पावे।
चरण शरण हो सुखकर की॥ जय . ॥

पैंसठिया यन्त्र

१२	१८	२४	५	६
४	१०	११	१७	२३
१६	२२	३	९	१५
८	१४	२०	२१	२
२५	१	७	१३	१९

मंगलवार

(तर्ज— दूर कोई गाये ....)

वासुपूज्य करिये जाप, दुःख टले कटे पाप।
बनो अविकारी हो, जय जय कारी हो॥ टेर॥

१— चम्पा नगरी में आया है,
वसु राजा के जाया है।
माँ जया को खुशी भारी हो॥ जय . . ॥

२— अरह नाथ अन्तर्यामी,
वर्धमान शासन स्वामी।
सुमति पद्म श्रेयकारी हो॥ जय .. .. . ॥

३— अभिनन्दन शीतल जग त्राता,
श्रेयांस कुन्थु जिन रिपु घाता।
श्री पार्श्वनाथ उपकारी हो॥ जय . .॥

४— शान्ति नेमी यादव नन्दा,
सम्भव सुविधि धर्म चन्दा।
अनन्त की जाऊँ वलिहारी हो॥ जय . . . ॥

५— मुनिसुव्रत नमिनाथ,
अजित जिनेन्द्र जोड़ूँ हाथ।
पच्चीस कषाय निवारी हो॥ जय . ..॥

६— ऋषभ सुपार्श्व जग भान,
कर दो विमल मुझ कल्याण।
मल्लि ब्रह्मचारी हो॥ जय . . ॥

७— मंगलवार ने जिन ध्यावे,
ग्रह पीड़ा तो नहीं आवे।
'उम्मेद' कहे भय हारी हो॥ जय ॥

पैंसठिया यन्त्र

१६	२२	३	९	१५
८	१४	२०	२१	२
२५	१	७	१३	१९
१२	१८	२४	५	६
४	१०	११	१७	२३

बुधवार

(तर्ज— कमली वाले ने ....)

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति कहो,
अचिरानन्दन जय शान्ति कहो॥ टेर॥

१— अचिरा की कुक्षी में आया है,
मृगी रोग को दूर भगाया है।
हर घर मे सुख शांति रहो॥ अचिरा .... . ॥

२— अरिष्टनेमी सम्भव सुविधि प्रभो,
धर्म शशि अनन्त मुनिसुव्रत विभो।
नमि अजित विजयानन्द अहो॥ अचिरा .... ॥

३— मिथ्यात्व पच्चीस हटाया है,
श्री आदिनाथ मन भाया है।
सुपार्श्व विमल का शरण गहो॥ अचिरा . .. ॥

४— मल्लि वासुपूज्य अरह सोहे,
श्रीवर्द्धमान मन को मोहे।
त्रिशला के नन्दन वन्दन हो॥ अचिरा . . .... ॥

५— श्री सुमति पद्म अभिनन्दन के,
शीतल श्रेयांस कुन्थु जिन के।
चिन्तामणि पार्श्व रटते रहो॥ अचिरा .... .. ॥

६— बुधवार को जो नर ध्याएगा,
सुख सम्पत्ति शिवपद पाएगा ।
'उम्मेद' हृदय में प्रतिफल रहो॥ अचिरा ... ॥

पैंसठिया यन्त्र

१	७	१३	१९	२५
१८	२४	५	६	१२
१०	११	१७	२३	४
२२	३	९	१५	१६
१४	२०	२१	२	८

बृहस्पतिवार

(तर्ज— पनिहारी जी ....)

१— ऋषभ सुपार्श्व विमल नमूँ,
जिनवर जी हे लो, सुखकारी जी हे लो।
ब्रह्मचारी मल्लि नाथ, जिनवर जी॥

२— पच्चीस कषाय निवारने, जिनवर . ... .
पाया है केवलज्ञान॥ जिनवरजी .. ..॥

३— अरह नमूँ वर्धमान जी, जिनवर . .... .
सुमति पद्म वासुपूज्य॥ जिनवरजी . .. ॥

४— शीतल श्रेयांस कुन्थु वन्दुं, जिनवर ...
चिन्ताचूरण पार्श्वनाथ॥ जिनवरजी .॥
५— अभिनन्दन श्री नेमीजी, जिनवर . ...
तारी है राजुल नार॥ जिनवरजी . . .॥
६— सम्भव सुविधि धर्म नाथजी, जिनवर .
शांति वरताई शांतिनाथ॥ जिनवरजी . .. ॥
७— अनन्त मुनिसुव्रत जपो, जिनवर ......
नमि अजित शशि राय॥ जिनवरजी ... .॥
८— प्रातः समय गुरु दिन पढ़ो, जिनवर . ....
ग्रह दशा टल जाय॥ जिनवरजी ... . ॥
९— साध्वी 'उम्मेद' शरण लई, जिनवर . . .. .
भव दुःख दुष्कृत टार॥ जिनवरजी . ... ॥

पैंसठिया यन्त्र

९	१५	१६	२२	३
२१	२	८	१४	२०
१३	१९	२५	१	७
५	६	१२	१८	२४
१७	२३	४	१०	११

शुक्रवार

(तर्ज— नाथ कैसे गज को ....)

सुविधि जिन अब मोय पार उतारो,
मैं तो लीनो है शरण तिहारो॥ टेर॥

६— शनिवार ने जो जिनवर गुण गावेला,
रोग शोक चिन्ता नेड़े नहीं आवेला।
साध्वी 'उम्मेद' जन्म मरण मिटे,
पल में मोक्ष मझार॥ अबके ... ...॥

पैंसठिया यन्त्र

२२	३	९	१५	१६
१४	२०	२१	२	८
१	७	१३	१९	२५
१८	२४	५	६	१२
१०	११	१७	२३	४

शनिवार

(तर्ज— तुम से लागी लगन ....)

प्रभो ! नेमी जिनन्द,
धन्य यादव चन्द।
करुणा लाया,
प्रभु तोरण से रथ को फिराया॥ टेर॥

१— समुद्रविजय जी के प्राण प्यारे,
शिवादेवी के नन्द दुलारे।
तुम हो त्रिलोकी नाथ,
रक्खूं चरणों में माथ,
अक्षय पद पाया॥ प्रभु तोरण . .. ...

२— सम्भव सुविधि धर्मसुख कन्दा,
शान्ति अनन्त मुनिसुव्रत दुःखनिकन्दा।
नमि अजित चन्द्र स्वाम,
ऋषभ सुपार्श्व शिव धाम।
विमल मन भाया॥ प्रभु तोरण . .
३— मल्लि पच्चीस कषाय निवारी,
अरह वीर सुमति हितकारी।
श्री पद्म वासुपूज्य,
शीतल श्रेयांस कुन्थु जय।
जग यश छाया॥ प्रभु तोरण .. ..
४— प्रभु । पार्श्व की महिमा है न्यारी,
नाम में जादू भरा है चमत्कारी।
पल में कर दे निहाल,
अभिनन्दन मंगल माल।
शिव सुख पाया॥ प्रभु तोरण ....
५— शनि को जिनन्द गुण गावे,
मनवांछित सुख प्रकटावे।
राहु न लागे कदा,
'उम्मेद' जप ले सदा।
मरण मिटाया॥ प्रभु तोरण ....

पैंसठिया यन्त्र

२३	४	१०	११	१७
१५	१६	२२	३	९
२	८	१४	२०	२१
१९	२५	१	७	१३
६	१२	१८	२४	५

शनिवार

(तर्ज— नवकार मंत्र है महामंत्र ....)

चिन्तामणि चिन्ता दूर करो,
मैं शरण तुम्हारी आई हूँ।
श्री पार्श्वनाथ मेरे कष्ट हरो,
मैं शरण तुम्हारी आई हूँ॥ टेर॥

१— लक्कड़ को तुमने चिराया था,
नाग नागण का प्राण बचाया था।
धरणेन्द्र पद दिलवाया था॥ मैं शरण ....

२— अभिनन्दन शीतल निरुपम हो,
श्रेयांस कुन्थु पुरुषोत्तम हो।
श्री धर्म शान्ति परमोत्तम हो॥ मैं शरण .. ..

३— अरिष्टनेमी सम्भव जिन सुविधि,
अजित चन्दा अनन्त सिद्धि।
मुनिसुव्रत नमि करो वृद्धि॥ मैं शरण ....

४— मल्लि पच्चीस धनुष देहा कारे,
उपदेश देय राजाओं तारे।
सवा पहर में केवल प्राप्त करे॥ मैं शरण ....

५— श्री आदिनाथ आदि करता,
सुपार्श्व विमल निर्मल करता।
श्री पद्म वासुपूज्य दुःख हरता॥ मैं शरण ... .

६— श्री अरहनाथ अन्तर्यामी,
प्रभो महावीर शासन स्वामी।
श्री सुमतिनाथ सुमति धामी॥ मैं शरण ....

७— शनि को जिनवर नाम रटे,
केतु आदि ग्रह दूर हटे।
'उम्मेद' शरण से मरण कटे॥ मैं शरण ....

चौंतीस का यन्त्र

१	१४	७	१२
८	११	२	१३
१०	५	१६	३
१५	४	९	६

तर्ज— हां सगीजीने पेड़ा भावे ....

हां सती सोलह गुण गाओ।
नित उठ चरणो में शीश झुकाओ।
मिटे कर्म दुःख रोग शोक।
सुख समृद्धि पाओ रे॥ टेर॥

१— ऋषभदेव पुत्री धन्य ब्राह्मी,
सुलसा द्रौपदी महा गुण खानी।
चम्पा-द्वारने खोल सुभद्रा—
सुयश जग छायो रे॥ सती . .. ..

२— शील सुरंगी चन्दनबाला,
प्रथम शिष्या प्रभु वीर की आला।
प्रभावती सती सुन्दरी—
शिव सुख धन पायो रे॥ सती ... ..

३— दमयन्ती चेलणा सुखकारी,
राजमती की जाऊं बलिहारी।
चौपन दिन के पूर्व सती—
अक्षय पद पायो रे॥ सती ......

४— पद्मावती कौशल्या जयकारी,
शिवा सीता जगत जहारी।
अग्निकुण्ड थयो नीर—
देव नर सुयश गायो रे॥ सती ...

५— मृगावती खंती अपनाई,
केवल पा मुक्ति में सिधाई।
धन्य सती कुन्ती—
अमरा पद पायो रे॥ सती ....

६— मम गुरुणीसा अर्चना जी प्रसादे,
साध्वी उम्मेद सुख आनन्दे।
प्रातः उठ गुण गावतां—
इन सम बन जाओ रे॥ सती ... .

पैंसठिया यन्त्र

२२	३	९	१५	१६
१४	२०	२१	२	८
१	७	१३	१९	२५
१८	२४	५	६	१२
१०	११	१७	२३	४

श्री पैसठिया यन्त्र का छंद

श्री नेमीश्वर संभव स्वाम,
सुविधि धर्म शान्ति अभिराम।
अनन्त सुव्रत नमिनाथ सुजाण,
श्री जिनवर मुझ करो कल्याण॥ १॥

अजितनाथ चन्दा प्रभु धीर,
आदीश्वर सुपार्श्व गम्भीर।
विमलनाथ विमल जग जाण,
श्री जिनवर मुझ करो कल्याण॥ २॥

मल्लिनाथ जिन मंगल रूप,
पंचवीस धनुष सुन्दर स्वरूप।
श्री अरनाथ नमूँ वर्धमान,
श्री जिनवर मुझ करो कल्याण॥ ३॥

सुमति पद्म प्रभु अवतंस,
वासुपूज्य शीतल श्रेयंस।
कुन्थु पार्श्व अभिनन्दन भाण,
श्री जिनवर मुझ करो कल्याण॥ ४॥

इणपरे जिनवर संभारिए,
दुख दारिद्र विघ्न निवारिए।
पच्चीसे पैसठ परमाणु,
श्री जिनवर मुझ करो कल्याण॥ ५॥

इण भणतां दुख नावे कदा,
जो निज पासे राखो सदा।
धरिए पंचतणू मन ध्यान,
श्री जिनवर मुझ करो कल्याण॥ ६ ॥

श्री जिनवर नामे वंछित मिले,
मन वंछित सहु आशा फले।
धर्मसिंह मुनि नाम निधान,
श्री जिनवर मुझ करो कल्याण॥ ७ ॥



भगवान महावीर की तपस्या ....

तर्ज— साथणिया म्हारी रातडली सपनो ....

सुनिये भव्य प्राणी, महावीर के जीव ने तपस्या यूं कीनी॥
सुनिये भव प्राणी, कर्म द्वन्द ने काट लिया शिव सुख स्थानी॥ टेर॥

१— चक्रवर्ती के जन्म में, सुख वैभव दिया छोड़।
संयम पाला करोड़ वर्ष, वज्र कर्म दिया तोड़॥
अजी वीर प्रभु ने चक्रवर्ती के भव में तपस्या यूं कीनी॥ सुनिये . .

२— ११ करोड़ इकसठ लाख, तीस सहस्र परिमान
बत्तीस कीना ऊपरे, मास मास तप ठान।
अजी वीर प्रभु ने आतम बल जाग्रित कर ज्योति जगा लीनी॥ सुनिये .. ...

३— नन्दराय भव पच्चीसवें, संयम ले प्रभु ध्यान,
११ लाख ६१ सहस्र, दो शत मास तप जान।
अजी वीर प्रभु ने बीस बोल कर गोत्र तीर्थकर पा लीनी॥ सुनिये ... .

४— कुण्डलपुर में राय सिद्धार्थ, त्रिशला उदर
अवतार चौसठ इन्द्र महोत्सव कियो, घर २ मंगलचार।
अजी वीर प्रभु ने संयम ले, कर्म बीज जलावन ठा लीनी॥ सुनिये .. . ...

५— नव चौमासी तप किया, एक करी छ मास।
अभिग्रह दूजी ६ मासी में, तेरह बोल विमास॥
अजी चन्दन बाला पारणा दे प्रभु वीर को आत्म उज्जवल की॥ सुनिये ... . . .

६— अढ़ाई मास तीन मास दो, दोय मास खट जान।
डेढ़ मास वलि दो करी, मास द्वादश मान॥
अजी वीर प्रभु ने भद्र महाभद्र शिवभद्र तपस्या यूं कीनी॥
सुनिये ....

७— पक्ष बहोत्तर प्रभु किया, बेला किया गुनतीस।
भिक्षु प्रतिमा अष्टम करी, प्रतिपल नमाऊँ शीश॥
अजी वीर प्रभु ने घोर परिषह सहकर मुक्ति पा लीनी॥
सुनिये . . . . . .

८— साड़ी ११ वर्ष के ऊपरे, पच्चीस दिन तप धार।
एक सो गुनपचास दिन, पारणे किये दातार॥
अजी वीर प्रभु के कानो में कील्ले ठोके समता कीनी॥
सुनिये ... ..

९— आप विराज्या मोक्ष में, मैं इण भरत के मांय।
किन्तु अब ना रह सकूं, ज्योत में ज्योत मिलाय॥
अजी द्वैत कल्पना, मिटा जिनेश्वर एक ही कर दो नी॥
सुनिये . .. .

१०—गुरुणीसा वरदान दो, ढाऊं कर्म पहाड़।
कृपा होय जो आपकी तो, सहुं न जग की पछाड़॥
सती 'उम्मेद' की अरजी पर मरजी कर दो नी॥ सुनिये .. . .

११—दोय हजार छत्तीस में, उदयपुर शहर मझार।
आपाढ़ सुद दशमी भली, सिद्ध योग गुरुवार॥
अजी मदनपोल में गाकर आज सुना दीनी॥ सुनिये ... . .



आचार्य श्री जयमल गच्छ पट्टधर ....

तर्ज— साता कीजो जी ....

जय जय कारी रे जय २ कारी रे।
पूज्य जयमल गच्छ जगत में जहारी रे॥ टेर॥

१— पूज्य प्रवर आचार्य जयमलजी,
त्यागी तपस्वी भारी रे।
वर्ष बावन नहीं सोये ज्ञानी,
रचि कविताएँ श्रेयकारी रे॥ जय .. .

२— रायचन्दजी की करी सगाई,
ब्याह की हुई तैयारी रे।
पूज्य बोल्या नवकार भणो,
गुरु दीक्षा दो उपकारी रे॥ जय .. .

३— आसकरण जी आशा लेकर,
कहे पूज्य मैं वारी रे।
संयम दीजे ढील न कीजे,
करूं कर्म निवारी रे॥ जय . .

४— सबलचन्दजी सबल मन करी,
बालक वय संयम धारी रे।
पाट दिपायो पूज्य गुरु को,
बने हित—कारी रे॥ जय .....

५— हीरा मुनिजी हीरा सम चमके,
शुद्ध आत्मा वारी रे।
कस्तूरचन्दजी की सौरभ फैली,
हुए यश धारी रे॥ जय .. ..

६— भीकमचन्दजी महा बड़भागी,
कान मुनि की छवि न्यारी रे।
चवदह वर्ष में संयम ले,
सत्तरह में पदवी धारी रे॥ जय .. ..

७— अष्टम पट मधुकर मुनिवरजी,
जग को वल्लभ कारी रे।
शान्त दान्त गम्भीर गुणाकर,
प्रतिपल वन्दना मारी रे॥ जय .. . .

८— जय गच्छ के आठों ही पट्टधर,
हुए बाल ब्रह्मचारी रे।
जिन शासन की ज्योति जगा,
निज आत्मा तारी रे॥ जय ....

९— पूज्य गुरुणीसा श्री अर्चना—
जी की ख्याति भारी रे।
तस्य शिष्या उम्मेद की नैया,
दो अब तारी रे॥ जय . .... . ॥



श्री युवाचार्य शत-शत वन्दन

तर्ज— दिल लूटने वाले जादूगर ....

श्री युवाचार्य शत-शत वन्दन,
अभिवादन है तुम्हे हरवारी।
तुम चरण कमल की बलिहारी,
प्रतिपल वन्दना है गुरु म्हारी॥ टेर॥

१— उन्नीसौ सित्तर में जन्म लिया,
तिंवरी के भाग्य को चमकाया।
पिता जमना लाल के घर आनन्द छाया,
माता तुलछां खुशियां भारी॥ श्री युवा .

२— बचपन में लीला करते थे,
ऐवन्ता मुनि सम बनते थे।
बच्चों को शिक्षा देते थे,
बनो मात–पिता आज्ञाकारी॥ श्री युवा .

३— उन्नीसौ अस्सी में ग्रह त्याग किया,
जोरावर गुरुवर भेंट लिया।
अरु क्रोध लोभ मोह जीत लिया,
गुरु अनुशासन मे श्रेयकारी॥ श्री युवा . . .

४— आप शान्त दान्त गंभीर गुणाकार,
मधुर सरस सरल स्वभावी है।
अरु महान् विभूति ज्योतिर्धर,
वाणी मे जादू भारी है॥ श्री युवा

५— आनन पर आभा चमक रही,
दर्शन से मन को मोह रही।
जन्म जन्मान्तर दुःख भांज रही,
मिले आत्म–शान्ति सुखकारी है॥ श्री युवा ..

६— आप नाम मिश्री मधुकर प्यारा,
आचार्य संघ के मन भाया।
तुम्हें चुन के जन मन हरषाया,
सबके मन आनन्द अनपारी॥ श्री युवा . . ..

७— कागद कर दूँ धरती सारी,
अरु नीर करूँ स्याही सारी।
तो भी म्हारा युवाचार्य श्री रा,
गुण वर्णन में अनजारी॥ श्री युवा . ..

८— जब तक दिनकर शशि रहे,
तुम नाम की सौरभ अखण्ड रहे।
साध्वी ''उम्मेद'' कर जोड़ कहे,
गुरु कर दो नैया भवपारी॥ श्री युवा . .



तीर्थंकर-नामगोत्र-भावना

श्रीरस्तु

इमेहिं ण वीसाए कारणेहिं आसेवियबहुली कएहिं तित्थयरणामगोयं कम्मं निव्वत्तिंसु। तं जहा—

अरहंत १ सिद्ध २ पयवण ३ गुरु ४ थेरे ५ बहुस्सुए ६ तवस्सीसु ७।
वच्छल्लया य एसिं अभिक्खनाणोवओगे ८ य॥ १॥
दंसणा ९ विणए १० आवस्सए ११ य सीलव्वए निरइयारो १२।
खणलव १३ तव १४ च्चियाए १५ वेयावच्चे १६ समाही १७ या॥ २॥
अपुव्वनाणगहणे १८ सुयभती १९ पवयण पहाबणया २०।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्त लहइ जीवो॥ ३॥

— (आवश्यकनिर्युक्ति १७६-१७८)

मनुष्य इन बीस कारणों से तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म का उपार्जन करता है। यथा—

१ अरहन्तभक्ति	२ सिद्धभक्ति
३ प्रवचनभक्ति	४ गुरु (आचार्य) भक्ति
५ स्थविरभक्ति	६ बहुश्रुत (उपाध्याय) भक्ति
७ तपस्विवत्सलता	८ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग
९ दर्शन-विशुद्धि	१० विनयसम्पन्नता
११ आवश्यक-अपरिहाणि	१२ शीलव्रतनिरतिचारता
१३ खणलव (वैराग्य) भावना	१४ तपोभावना
१५ त्यागभावना	१६. वैयावृत्यकरण
१७ समाधिभावना	१८ अपूर्वज्ञानग्रहणभावना
१९ श्रुतभक्ति	२० प्रवचन-प्रभावना।

सामायिक के समय इन बीस कारणों की निरन्तर भावना करते रहना चाहिए।

अरिहन्त-भक्ति

घन घाती चउ कर्म विनाशे,
ज्ञानानन्त-चतुष्क प्रकाशे।
उन अरिहन्तों को नित ध्याऊँ,
जिससे मैं अर्हत्पद पाऊँ॥ १ ॥

सिद्ध-भक्ति

अष्ट कर्म जिन नाश किये हैं,
आठ सुगुण जिन प्राप्त किये हैं।
उन सिद्धों का ध्यान धरूँ मैं,
कब अष्टम-भू-वास करूँ मैं॥ २ ॥

प्रवचन-भक्ति

प्रवचन-भक्ति सदा मम होवे,
प्रवचन-अनुमत-वचन सु होवे।
स्व-पर-भेद जिससे नित दीखें,
उसको ही हम निशि-दिन सीखें॥ ३ ॥

आचार्य-भक्ति

जबलों नहिं आचार्य रूप हो,
तबलों उनका गुण-सुमरण हो।
मेरी परिणति उनके सम हो,
यही भावना मन में नित हो॥ ४ ॥

स्थविर-भक्ति

वृद्ध साधु या जो चिर-दीक्षित,
वे मुनि हैं स्थविर पद-भूषित।
उनमें भक्ति सदा मम होवे,
जिससे मन मेरा थिर होवे॥ ५ ॥

बहुश्रुत–उपाध्याय–भक्ति

स्वयं पढ़ें अरु शिष्य पढावें,
वे बहुश्रुत उवझाय कहावें।
वस्तु–स्वरूप दिखावनहारे,
उनमें हो नित भक्ति हमारे॥ ६॥

तपस्वि–भक्ति

षष्ठम अष्टम मास–खमण को,
करते हैं जो कर्म–क्षमण को।
उन तपस्वि मुनियों में भक्ति—
हो, जिससे प्रगटे तप–शक्ति॥ ७॥

अभीक्ष्णज्ञानोपयोग

नित हो मेरे शास्त्राभ्यास,
जिससे होवे ज्ञान प्रकाश।
मेरी परिणति ऐसी होवे,
ज्ञान–विमुख नहिं आतम होवे॥ ८॥

दर्शन–विशुद्धि

कब दर्शन–विशुद्धि मम होवे,
कब सब पर सम दृष्टि होवे।
कब आपा पर–भेद सु जानूँ,
कब निज अनुभव आप पिछानूँ॥ ९॥

विनयसम्पन्नता

कब रत्नत्रय–विनय प्रकाशे,
कब निज–आतम–बोध प्रकाशे।
मन–वच–काय–शुद्धि कब होवे,
कब सर्वाङ्ग विनय गुण होवे॥ १०॥



आवश्यक-अपरिहाणि

षट् आवश्यक कब मैं धारूँ,
नित उनका ही भेद विचारूँ।
कर्म-जाल से होउँ विमुक्त,
बनूँ आत्म-गुण-गण से युक्त॥ ११ ॥

शीलव्रत-निरतिचारिता

कब कुशील तज शील सु धारूँ,
कब मैं निर्मलता विस्तारूँ।
कब श्रावक-मुनि के व्रत पालूँ,
कब निज-आतम रूप सँभालूँ॥ १२ ॥

खण-लवता (अभीक्ष्ण-संवेगता)

पुत्र-मित्र-धन-धान्यादिक से,
हो वैराग्य सदा मम पर से।
इन्द्रिय-विषय क्षणिक सुख-दाता,
मेरा इनसे फिर क्या नाता॥ १३ ॥

शक्तितस्तपोभावना

द्वादशतप आतम-हितकारी,
तप ही काटें विपदा सारी।
संचित-कर्म-दहन-हित-ज्वाला,
शिव-सुख को यह देने वाला।
कब हो मेरे सों तप-धारण,
ये ही हैं जग-भ्रमण-निवारण।
रहे भावना ऐसी मेरी,

शक्तितस्त्याग-भावना

शक्त्यनुसार त्याग नित होवे,
लोभ पाप का बाप न होवे।
सदा पात्र को त्रिविध योग से,
दान सदा ही देऊँ प्रेम से॥ १५॥

वैयावृत्यकरण

आधि–व्याधि से पीड़ित जो हों,
रोग शोक जिनको कुछ भी हों।
उनकी वैयावृत्य करूँ मै,
जग–उपकारी कार्य करूँ मैं॥ १६॥

साधु-समाधि

मरण और उपसर्ग जु होवे,
इष्ट–वियोग कभी या होवे।
भय न कभी तब मेरे होवे,
यह शुभ साधु–समाधि सु होवे॥ १७॥

अपूर्वज्ञान-ग्रहण

शास्त्रो का नित पठन करूँ मैं,
नित नव ज्ञान ग्रहण करूँ मै।
ज्ञानमयी चेतन है मेरा,
ज्ञान–सूर्य का होय सवेरा॥ १८॥

श्रुत (शास्त्र) भक्ति

इस पंचम कलि काल मंझारा,
जिन वाणी अमृत–रस–धारा।
वस्तु–स्वरूप–दिखावनहारी,
उसमे हो नित भक्ति हमारी॥ १९॥

प्रवचन या शासनप्रभावना

जिनशासन तिहुँ जग में सार,
सर्व जीव का है हितकार।
कैसे उसका होय प्रचार,
कब सब जन इसको लें धार॥ २० ॥
ये हैं वे बीस ही कारण,
भावें जिनको भविजन पावन।
भविक-मोर-जन को जो जल-धर,
होते वे इससे तीर्थंकर॥ २१ ॥



वैराग्य मणिमाला

चिन्तन कर परमातम देव।
योगि समूह करें जिन सेव॥
भवसागर में नौका सम जो।
केवल-ज्ञानामृत-मय हैं जो॥ १॥

तज रे जीव धनादिक तृष्णा।
तज ममता अरु लेश्या कृष्णा॥
चारित धर पालो नित शील।
जिससे हो शिव-संगम लील॥ २॥

लख अनित्य यह दुखद शरीर।
तात, मात, नारी, धन, वीर॥
चाह करे फिर भी उनकी तू।
काल लखै नहिं, बना मूढ़ तू॥ ३॥

बाल्यकाल में क्रीड़ासक्त।
यौवन-वय में रमणी-रक्त॥
वृद्धपने धन आशा कष्ट।
यों तुम हुए अहो बहु दुष्ट॥ ४॥

विषय-भोग में है क्यों आशा।
यह तो है तुव गल की पाशा॥
मर के पावे नरक निवासा।
तदपि न छोड़े तू धन-आशा॥ ५॥

भ्रात, सुनहु मेरे वच-सार।
जो तू चाहे भव से पार॥
मोह काम अरु तज दे क्रोध।
भज ले संयम अरु वरबोध॥ ६ ॥

जग में नारी, पुत्र कौन है।
यह भव तो बहु दुःखयोनि है॥
हुए पूर्व भव मे तुम कैसे।
पाप कर्म से पापी जैसे॥ ७ ॥

भावो अशरण शरण सदा ही।
चिन्तो अर्थ अनर्थ सदा ही॥
नश्वर काय, पराक्रम, वित्त।
वाछा करते फिर भी चित्त॥ ८ ॥

जाय अकेला जीव नरक में।
कभी पुण्य से जाय स्वर्ग में॥
राजा और धनेश अकेला।
होय दास अविवेक अकेला॥ ९ ॥

रोगी, शोकी, होय अकेला।
सुखी-दुःखी भी सदा अकेला॥
होय दरिद्री अरु व्यवहारी।
भ्रमै अकेला दुखिया भारी॥ १० ॥

अथिर सुपरिजन पुत्र कलत्र।
सभी मिले हे दुख के मत्र॥
चिन्तो चित में निश्चय भ्रात।
जननी कौन, कौन तव तात॥ ११ ॥

मोहयुक्त हो करके जाया।
बन्धु मित्र हित पाप कमाया॥
उसी पाप से जाय नरक मे।
विपदा घोर सहोगे पल मे॥ १२॥

विषय पिशाची संगम तज दे।
क्रोध कषाय मूल से हर ले॥
काम-बाण का कर दे नाश।
इन्द्रिय चोर मूल से नाश॥ १३॥

हाड़ मॉस का बना शरीर।
अशुचि वस्तु की जान कुटीर॥
रज वीरज से बना हुआ है।
फिर भी उसमें पगा हुआ है॥ १४॥

भवसागर में काल अनन्त
तूने पाये दुःख महन्त॥
फिर भी तू है विषयासक्त।
अरे, मूढ़ अब होय विरक्त॥ १५॥

दुर्गति दुःख से दुःखी हुआ तू।
उनके पीछे तदपि पड़ा तू॥
विकल मत्त हो भूताविष्ट।
किया पाप आचरण अशिष्ट॥ १६॥

सप्त धातु मय पुद्गल-पिण्ड।
कृमि-कुल-कलित, रोगफणि-खण्ड॥
मस्त हुआ है तू ज्यों सण्ड।
तेरे शिर पर है यम का दण्ड॥ १७॥

मत कर यौवन धन का गर्व।
काल हरेगा तेरा सर्व॥
इन्द्रजाल सम निष्फल एह।
खोज मोक्षपद, सुख का गेह॥ १८॥

कमलपत्र पर ज्यों जल चचल।
इन्द्रचाप या विद्युन्मण्डल॥
क्या न दिखे त्यों ही संसार।
जाने उसको भ्रम से सार॥ १९॥

रोग शोक से भरे हुए को।
तज दे तू इस भव–कानन को॥
तेरे कर को कौन पकड़ के।
समझावेगा करुणा करके॥ २०॥

सभी परिग्रह को तू तज दे।
सम्यक्चारित को फिर धर ले॥
काम क्रोध का नाशक–मन्त्र।
कर ले आतम ध्यान पवित्र॥ २१॥

विषय विनोद छोड़ दे भाई।
फिर पा ले शिव की ठकुराई॥
शुक्लध्यान में चित्त लगा के।
फिर शिव के सुख भोगो जाके॥ २२॥

काम विकार, कषाय सु तज के।
आशा–वसन विहारी बन के॥
गिरि कन्दर में आसन धर के।
कर ले ध्यान आत्म को लख के॥ २३॥

यम नियमासन योगाभ्यास।
इनसे कर निज आत्मप्रकाश॥
परम ध्यान को घर के वीर।
भवसागर के पहुँचो तीर॥ २४॥

पच परम गुरु की साक्षी से।
जो चारित तुम लिया प्रेम से॥
उसको पालो यावज्जीव।
यह भवसागर नाव सदैव॥ २५॥

वस्तु अनित्य सभी तू तज दे।
शुद्ध आत्म की रक्षा कर ले॥
आशा दासी संगम हर ले।
समता और उपेक्षा धर ले॥ २६॥

पर्यंकादि योग अभ्यास।
करहु यत्न से ज्ञान प्रकाश॥
दुर्धर मोह महा विष सर्प।
कील ज्ञान से मरदो दर्प॥ २७॥

संसारेन्धन—दहन—शक्त।
पूरक कुम्भक रेचक वात॥
इनसे कर ले निर्मल काया।
पीछे आतम ध्यान बताया॥ २८॥

ध्यान समय मन्त्रो को जप ले।
उनका ही तू शरण धर ले॥
जिससे फिर नहिं होगा मरना।
अरु होगा भवसागर तरना॥ २९॥

अविचल चित्त बन्धु तुम धारो।
जिससे स्वयं पार हो जाओ॥
फिर तुम होगे केवलज्ञानी।
मुक्ति रमा के भोक्ता मानी॥ ३०॥

शुद्ध रूप मय चिन्मय पिण्ड।
सच्चित्, आनन्दामृत पिण्ड॥
चेतन रम्य कौमुदी चन्द्र।
चिन्तो निज को गुण गण सान्द्र॥ ३१॥

निर्मल चिद्रूपामृत—सिन्धु।
शुक्लध्यान अम्बुज के बन्धु॥
सिद्धि वधूवर सरसी हंस।
देख मोक्ष को शान्त निरंश॥ ३२॥

ज्ञानार्णव कल्लोल स्वरूपी।
निज में जो नित रमै अरूपी॥
नव केवल लब्धी का स्वामी।
जो मुनिगण सेवित जगनामी॥ ३३॥

केवल कैरविणी पति है जो।
मुक्ति रमा का भूपण है जो॥
त्रिभुवन लक्ष्मी भाल विशेष।
वह लख गुण गणमयी अशेष॥ ३४॥

शिव हंसी संगम सस्नेही।
अष्टगुणान्वित और विदेही॥
बोधि सुधारस पान पवित्र।
समता सागर त्रिभुवन नेत्र॥ ३५॥

जो अनन्त, अविचल सद्–वेदी।

योगी, वृन्द, वृन्दारक सेवी ॥
हरि-हर-ब्रह्मादिक से वंद्य।
केवल कल्याणणोत्सव हृद्य ॥ ३६ ॥

श्रुत शैवलिनी सुर-गिरि भारी।
मुक्ति रमा-कर-दर्पण-धारी ॥
कर्म-महीधर-भेदन-कार।
श्याम श्री-ग्रीवालकार ॥ ३७ ॥

व्योमकार पुरुष निष्पाप।
किया शमन जिसने भवताप ॥
काम दहनकर किया निपात।
त्रिभुवन-भव्य-जीव हित तात ॥ ३८ ॥

इत्यादिक गुणगण मय सत्य।
चिन्तो परमातम को नित्य ॥
प्रवचनमाताष्टक को धार।
हो जा भव से फिर तू पार ॥ ३९ ॥

निज देहस्थ उसे अवधार।
भेद न उससे करहु विचार ॥
"सोऽहं" भाव सदा हिय धारो।
निज मे शशि दिन वह अवतारो ॥ ४० ॥

एकानेक स्वयं अवधारो।
शुद्धाशुद्ध विचार निकारो ॥
करके लक्ष्य अलक्ष्य विचार।
निज के कर्म कलक विदार ॥ ४१ ॥

बद्ध-अबद्ध सु रिक्त-अरिक्त।
शून्य-अशून्य, सु व्यक्ताव्यक्त ॥

रुष्ट अरुष्ट सु दुष्ट-अदुष्ट।
शिष्य-अशिष्ट सु पुष्टापुष्ट॥ ४२ ॥

निश्चयनय अरु नय व्यवहार।
दोनों नय से भेद-विचार॥
परम पुरुष देहस्थ कहा है।
परमानन्द स्वभाव महा है॥ ४३ ॥

तज दे निष्फल बाह्य पदार्थ।
लग जा शिव में आत्म हितार्थ॥
कर निज कारज होय अतन्द्र।
हो जा केवल लक्ष्मीचन्द्र॥ ४४ ॥

तज-तज, विषय-भोग को भाई।
हर-हर, निज तृष्णा अधिकाई॥
रोक-रोक, मानस-मातंग।
धर-धर, जीव विमलतर योग॥ ४५ ॥

निज देहस्थ सुमर ले सिद्ध।
निर्मल ज्ञानमयी सत्-बुद्ध॥
परम शुद्ध केवल-अवरुद्ध।
सुमर-सुमर, रे जीव प्रबुद्ध॥ ४६ ॥

यह वैराग्यमयी मणिमाला।
जो छ्यालीस पद्य गुण माला॥
रची मुमुक्षु श्री श्रीचन्द्र।
जो हैं श्रुतज्ञान के चन्द्र॥ ४७ ॥

भाव-शुद्धि-हित-भाषा कीनी।
जिससे परम शान्ति मैं लीनी॥
पढ़ै सुनै जो सो सुख पावै।
यही भाव मेरे मन आवै॥ ४८ ॥

कल्याण-आलोचना

श्री वर्द्धमान परमात्मन्, पूज्यदेव,
तेरे सदा युगल पाद सरोज पूजूँ।
आत्मीय वा पर विशुद्धि निमित्त से मैं,
आलोचना सकल सौख्यकरी कहूँ हूँ॥ १॥

ससार मे भ्रम रहा चिरकाल से मैं,
मिथ्यात्व के वश हुआ निज रूप भूला।
पै कर्मबन्ध-अवमर्दक-बोधि लाभ,
हा, आजलों नहिं हुआ मुझको कभी भी॥ २॥

मैंने भव-भ्रमण को करते हुए हा,
आराधना न अबलों जिनधर्म की, की।
जिसके बिना सतत दुःख अनन्त बार,
भोगे अहो नहिं पता जिसका मुझे है॥ ३॥

संसार मे भ्रमण को करते हुए ही,
हा मृत्यु के दुःख सहे जिनका न पार।
सर्वज्ञ देव बिन तो उनकी कभी भी,
जानी न जाय गणना इस लोक बीच॥ ४॥

हा, कोध को कर परस्पर जीव जारे,
पाते भयानक सु नारक दुःख को है।
यो जान भी अधम चित्त, न धर्म सेवे,
हा, कष्ट कौन बढ़कर इससे मुझे है॥ ५॥

माता-पिता, स्वजन, बन्धु, सुमित्र, भाई,
कोई न साथ जग में चलता कभी है।
संसार में भ्रम रहा चिरकाल से मैं,
साथी कभी न कोई जग में हुआ है॥ ६॥

होती विनाश जब आयु मनुष्य की है,
तो आयुदान करने न समर्थ कोई।
देवेन्द्र, नाग धरणेन्द्र, नृपेन्द्र हो या,
हो औषाधादि मणि-मन्त्र सुजंत्र-तंत्र॥ ७॥

मैंने विशुद्ध परिणाम सुयोग से ये,
श्री जैन का परम-पावन मार्ग पाया।
प्रत्येक ही समय मे करके प्रयत्न,
मानुष्य जन्म यह सार्थक, मेरा सु होवे॥ ८॥

सम्यक्त्व शुद्ध गुण के प्रतिपक्ष जेते,
मिथ्यात्व भेद जिन आगम में बताये।
श्रद्धान जो यदि किया अज्ञान से तो,
मिथ्यास्वरूप मम पाप प्रभो, सभी हो॥ ९॥

जुआ, शराब, पल-भक्षण आदि सातों,
सेये सदा व्यसन, हा ! जिनदेव, मैंने।
हा, त्याग भी नहिं किया अबलौं कभी मैं,
मिथ्यास्वरूप मम पाप प्रभो, सभी हों॥ १०॥

जेते अणुव्रत, महाव्रत, शीलभेद,
मैंने लिए, गुरु दिए, प्रभु आजलौं सो।
जो-जो विराधित किये, उनमें सदा ही,
मिथ्यास्वरूप मम पाप प्रभो, भी में॥ ११॥

भू, शंख आदि त्रसथावर जीव जेते,
नाना स्वरूपमय आगम में बताये।
अज्ञान से यदि विराधन को किया हो,
तो वे समस्त मम दुष्कृत झूँठ होवें॥ १२॥

चारित्र दोष जितने मैने किये हों,
या हो गई कुछ व्रतादिक में बुराई।
सामायिकादि व्रत में दश धर्म मे या,
तो वे समस्त मम दुष्कृत झूँठ होवे॥ १३॥

जे फूल, बेलि, फल, पत्र विनाश कीनें,
स्नानादि या बिन छने जल से, जु कीनें।
या की विराधन सुधोवन आदि से मैं,
तो वे समस्त मम दुष्कृत झूँठ होवे॥ १४॥

पाला न शील तप संयम आदि मैंने,
धारी क्षमा विनय आदि न अल्प मैंने।
हा ! भावना तक नहीं कुछ भी कभी की,
सो वे समस्त मम दुष्कृत झूँठ होवें॥ १५॥

हा ! कन्दमूल फल आदि सचित्त खाए,
औ, रात्रि भोजन किया सुक–मान मैने।
अज्ञान से इस तरह बहु पाप कीने,
सो, वे समस्त मम दुष्कृत झूँठ होवें॥ १६॥

सत्पात्र–दान, जिन–पूजन देव, तेरी,
कीनी, कभी न गमनादिक शुद्धि मैने।
हा ! भावना तक कभी मन मे न आई,
सो वे समस्त मम दुष्कृत झूँठ होवें॥ १७॥

आरम्भ संग वश हो बहु पाप कीने,
होके प्रमादवश, जीव विनाश कीने।
आर्त्तादि ध्यान धर पाप सदा कमाया,
सो वे समस्त मम दुष्कृत दूर होवें॥ १८॥

हा, ढ़ाई द्वीप सम्बन्धि-त्रिकालवर्त्ती,
संसार-तारक जिनेश्वरदेव की मैं।
आराधना कर सका नहिं स्वप्न में भी,
सो वे समस्त मम दुष्कृत नाश होवें॥ १९॥

अर्हन्त सिद्ध अरु सूरि सुपाठकों का,
औ' सर्व साधु युत श्री परमेष्ठियों का।
अज्ञान से यदि विराधन जो किया हो,
सो वे समस्त मम दुष्कृत नाश होवें॥ २०॥

जो क्रोध, मान, छल, लोभ रु राग, द्वेष,
मोह-स्वरूप बन भाव अशुद्ध राखे।
अज्ञान लीन बनके हा, पाप मैंने,
जेते किये, सकल वे मम नाश होवें॥ २१॥

होके प्रमादवश आत्मस्वरूप भूल,
हिंसा, असत्य, पर-वस्तु, परांगना को।
हा, सेय-सेय, बहु पाप सदा कमाया,
सो वे समस्त मम दुष्कृत नास होवें॥ २२॥

मैं नित्य एक निज रूप स्वभाव सिद्ध,
हूँ मुक्त रूप नित सर्व विकल्प से मैं।
सो लोक में शरण तो मम है न दूजा,
है एक ही शरण सो परमात्म देव॥ २३॥

मैं हूँ अमूर्त्त, वर्णादिक चार हीन,
बाधा बिना दृग अनन्त सुज्ञानधारी।
सो लोक में शरण तो मम है न दूजा,
है एक ही शरण सो परमात्म देव॥ २४॥

मै एक ही समय मे निज ज्ञान द्वारा,
सम्पूर्ण ज्ञेय लखके रमता स्वरूप।
सो लोक मे शरण तो मम है न दूजा,
है एक ही शरण सो परमात्म देव॥ २५॥

एक स्वरूप अथवा बहुरूप मै हूँ,
ऊर्ध्व–स्वभाव–गतिरूप सदा रहूँ मैं।
सो लोक मे शरण तो मम है न दूजा,
है एक ही शरण सो परमात्म देव॥ २६॥

देह–प्रमाण अविनाशि रहूँ सदा मैं,
विस्तार से बन सकूँ पर लोक मान।
सो लोक में शरण तो मम है न दूजा,
है एक ही शरण सो परमात्म देव॥ २७॥

मेरा पवित्र जब रूप सुव्यक्त होवे,
हो बोध–दृष्टि तब तो मम एक साथ।
सो लोक मे शरण तो मम है न दूजा,
है एक ही शरण सो परमात्म देव॥ २८॥

जो है विभावगुण मुक्त पवित्र रूप,
आनन्दमय, विमलमूर्ति, गुणों भरा जो।
सो लोक मे शरण तो मम है न दूजा,
है एक ही शरण सो परमात्म देव॥ २९॥

मेरी भावना

जिसने राग-द्वेष कामादिक, जीते सब जग जान लिया,
सब जीवों को मोक्ष-मार्ग का, निस्पृह हो उपदेश दिया।
बुद्ध, वीर, जिन, हरिहर, ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहो,
भक्ति-भाव से प्रेरित हो, यह चित्त उसी में लीन रहो॥ १ ॥
विषयों की आशा नहीं जिनको, साम्य-भाव धन रखते हैं,
निज-पर के हित साधन में जो, निशि-दिन तत्पर रहते हैं।
स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या, बिना खेद जो करते हैं,
ऐसे ज्ञानी साधु जगत् के, दुःख-समूह को हरते है॥ २ ॥
रहे सदा सत्संग उन्ही का, ध्यान उन्हीं का नित्य रहे,
उन्ही जैसी चर्या में यह, चित्त सदा अनुरक्त रहे।
नहीं सताऊँ किसी जीव को, झूठ कभी नहीं कहा करूँ,
पर-धन, वनिता पर न लुभाऊँ, सन्तोषामृत पिया करूँ॥ ३ ॥
अहंकार का भाव न रक्खूँ, नहीं किसी पर क्रोध करूँ,
देख दूसरों को बढ़ती को, कभी न ईर्ष्या-भाव धरूँ।
रहे भावना ऐसी मेरी, सरल सत्य व्यवहार करूँ,
बने जहाँ तक इस जीवन में, औरों का उपकार करूँ॥ ४ ॥
मैत्री-भाव जगत में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे,
दीन-दुखी जीवों पर मेरे, उर से करुणा-स्त्रोत वहे।
दुर्जन-क्रूर कुमार्ग-रतों पर, क्षोभ नहीं मुझको आवे,
साम्य-भाव रक्खूँ मैं उन पर, ऐसी परिणति हो जावे॥ ५ ॥
गुणीजनों को देख हृदय में, मेरे प्रेम उमड़ आवे,
बने जहाँ तक उनकी सेवा, करके यह मन सुख पावे।
होऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं, द्रोह न मेरे उर आवे,
गुण-ग्रहण का भाव रहे नित, दृष्टि न दोपों पर जावे॥ ६ ॥

कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे,
लाखों वर्षो तक जीऊँ या, मृत्यु आज ही आ जावे।
अथवा कोई कैसा ही भय, या लालच देने आवे,
तो भी न्याय-मार्ग से मेरा, कभी न पद डिगने पावे॥ ७॥

होकर सुख मे मग्न न फूले, दुःख मे कभी न घबरावे,
पर्वत नदी श्मशान भयानक, अटवी से नहीं भय खावे।
रहे अडोल अकम्प निरन्तर, यह मन दृढ़तर बन जावे,
इष्ट-वियोग अनिष्ट-योग मे, सहनशीलता दिखलावे॥ ८॥

सुखी रहे सब जीव जगत के, कोई कभी न घबरावे,
बैर, पाप, अभिमान छोड जग, नित्य नये मंगल गावे।
घर-घर चर्चा रहे धर्म की, दुष्कृत दुष्कर हो जावें,
ज्ञान चरित उन्नत कर अपना, मनुज-जन्म फल सब पावे॥ ९॥

ईति भीति व्यापे नही जग मे, वृष्टि समय पर हुआ करे,
धर्म-निष्ठ होकर राजा भी, न्याय प्रजा का किया करे।
रोग मरी दुर्भिक्ष न फैले, प्रजा शान्ति से जिया करे,
परम अहिंसा धर्म जगत मे, फैले सर्व-हित किया करे॥ १०॥

फैले प्रेम परस्पर जग मे, मोह दूर पर रहा करे,
अप्रिय कटुक कठोर शब्द नहि, कोई मुख से कहा करे।
बनकर सब 'युगवीर' हृदय से, देशोन्नतिरत रहा करे,
वस्तु-स्वरूप विचार खुशी से, निजानन्द में रमा करे॥ ११॥

★ ★ ★

गुरुवर्याय नमः

गुणाष्टकम्

उपेन्द्रवज्रा वृत्तम्

यशस्विनी याहि सितैर्यशोभिः।
शान्ता सुशीला सुखदा च रम्या।
कथं न मान्या भवतीह लोके।
महासती श्री 'उमरावजी' सा॥ १ ॥

शार्दूल विक्रीडितम्

या शीतांशु-मुख-प्रकाश सुभगा, विद्या-विशाला-प्रिया।
शुद्ध-श्वेत-सुवेश-दिव्य-चरितंकान्तं च यस्या वपुः॥
भालं भव्य तमं प्रदीप्त मतुल मुग्धं च यस्या मनः।
साध्वी सा उमरावजी वर सती जीयाज्जगत्यां सदां॥ २ ॥

वसन्तलिका वृत्तम्

पत्यु र्वियोगमभिगम्य निजं सुयोगं।
वैराग्य रंग-रस-पूरित-भावनाभिः॥
जग्राह संयम महो किल याहि देवी।
साध्वी सदा विजयता 'मुमरावजी' सा॥ ३ ॥

मालिनी वृत्तम्

सकलजनमनोज्ञा सर्वदा शान्तिमूर्तिः
सरस-वचन-रम्या, मूर्त्त-रूपा सुधा या
स्मित-वदनसुभव्या माननीया जगत्यां
जयतु-जयतु 'उमा' स्नेह-शीला सतीसया॥ ४ ॥

द्रुतविलंबितम् वृत्तम्

मधुर कंठ सुगीति परावश।
विविध वाङ्मय वाचन तत्परा॥
विजयता मिह भारत भारती।
प्रियतरा 'उमराव' महासती॥ ५॥

त्रोटक वृत्तम्

सततं सुखदा सुतरां मुदिता।
सकला सरसा विदुषी विदिता,
विनता मधुरा यशसां सरिता,
उमराव सती नितरां प्रमिता॥ ६॥

मन्दाकान्ता वृत्तम्

सौभ्याकारा, प्रकटित-गुणा, वन्दनीया बुधैर्या
धर्माधारा, शशि सम मुखा, श्लाधनीया सुसभ्या
शक्त्यागारा, मधुर वचना, शोभनीया च या हि।
'उमा' साध्वी जगति महिता, राजते सौभ्य भावा॥ ७॥

शिखरिणी वृत्तम्

क्षमा शीलोपेता, वितत् सुगुणा प्रीति सहिता,
कलानामाधारा जनित सुकृता दिव्य चरिता।
प्रशस्या धर्मिष्ठा हत-मद-बलया च मधुरा,
सती साध्वी 'उमा' विनय-सहिता भाति खलु-सा॥ ८॥

अनुष्टुप वृत्तम्

'उमराव' सती स्तोत्र
मष्ट श्लोक-समन्वितम्
श्रद्धयेदं पठेत् योहि
स सौख्य मधिगच्छति॥ ९॥

शत शत वन्दन

(श्री मधुकर मुनि जी म.)

तर्ज— जय अचलाशन शान्ति सिंहासन

जय जय जय जय त्रिशलानन्दन,
तव चरणों मे शत शत वन्दन॥ टेर॥

१— वर्धमान तुम महावीर तुम,
सन्मति हो तुम ज्ञातपुत्र तुम।
तुम ने जग को सत्य सुझाया,
भ्रान्त जनों को मार्ग बताया।
जय जय जय जय दुरित-निकन्दन
तव चरणों में .. ..

२— तुम जैसा हो वीतरागपन,
जीवन में आ जाए क्षण-क्षण।
विषम परिस्थिति आए कैसी,
अविचलता हो नित तुम जैसी।
जय जय जय जय नाथ निरंजन,
तव चरणों में .. . .

३— सभी सुखी हो सभी निरामय,
दु:ख दूर हो सभी शुभाशय।
प्राणिमात्र का हित चिन्तन हो,
विश्वप्रेम का ही बन्धन हो।
जय जय जय जय भवभय-भंजन,
तव चरणों में . ...

४— मानवता की हों मर्यादा,
जीवन हो प्रिय सीधा साधा।
मंजिल कर लें पार निरन्तर,
ऐसा श्रम हो निज जीवन भर।
जय जय जय जय शान्तिनिकेतन,
तव चरणो में . ...

५— इस तन की नस नस में भगवान,
धैर्य शौर्य ही बढे चिरन्तन।
यही भावना लेकर 'मधुकर'
गीत तुम्हारे गाता जिनवर।
जय जय जय जय जग-अभिनन्दन,
तव चरणों में शत शत वन्दन॥

